Chapter-2

"द्वितीय - अध्याय"

"पारिवारिक जीवन में "वैयक्तिक-चेतना" का विश्लेषण"

"द्वितीय अध्याय"

"पारिवारिक जीवन में वैयक्तिक-चेतना का विश्लेषण"

पृष्ठभूमि :-

साहित्य की चिन्तन धारा अपने समसामयिक जीवन से अविच्छिन्न होकर नहीं रहती । वह किसी न किसी रूप में सम्बद्ध अवश्य रहती है । समसामयिक परिस्थितियाँ जहाँ साहित्य पर अपनी प्रतिक्रिया छोड़ती हैं, वहीं प्राचीन तद्युगीन परिस्थितियां भी नवीन मूल्यों के निर्माण अथवा विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं । अत: युग विशेष के पक्षों को भली-भाँति समझने के लिए पूर्वयुगीन प्रसंगों पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है ।

पूर्ववर्त्ती अध्याय में यह विवेचित किया जा चुका है कि साहित्य में अभिव्यक्त "वैयक्तिक चेतना" का व्यक्ति के अस्तित्व के साथ ही बीजारोपण हो चुका था जो वैदिक काल में अंकुरित हो, शनै: शनै: अनुकूल परिस्थितियों में पुष्पित पल्लवित होती गई । ~~और अब समकालीन युग में फलीभूत होती गई~~ । और अब समकालीन युग में फलीभूत हो रही है । आज "वैयक्तिक चेतना" का जो स्वरूप साहित्य में दृष्टिगोचर हो रहा है वह गत शताब्दियों के राजनैतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों का परिणाम है । यद्यपि इस दौरान उसके स्वरूप में युगानुरूप परिवर्तन अवश्य आया है । उस परिवर्तन से साहित्य भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका ।

नाटक मानव जीवन से घनिष्ठ रूप में ~~जुड़ा~~ जुड़ा हुआ है । ललित कला की यही एकमात्र विधा है जिसमें सभी कलाओं का अन्तर्भाव रहता है । इसमें संगीत, नृत्य, वास्तु, अभिनय इत्यादि का समावेश होता है ।

दृश्यकाव्य होने के कारण यह शिक्षित और अशिक्षित जन में तादात्म्य स्थापित कर चेतना का प्रसार करने में सक्षम है । यह विशेषता साहित्य की अन्य विधाओं में नहीं । विवेच्य काल के नाट्य साहित्य में जो परिवर्तित "वैयक्तिक-चेतना" परिलक्षित हो रही है उसे नितान्त आधुनिक कह देना न्याय संगत प्रतीत नहीं होती है । इसकी नींव भारतेन्दु युग में पड़ चुकी थी । अतः साठोत्तरी नाटकों मे प्रतिबिम्बित "वैयक्तिक चेतना" को समुचित रूप से समझने के लिए भारतेन्दु युग के नाट्य साहित्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा ।

भारत, सुदीर्घ काल से निरन्तर हो रहे विदेशी आक्रमणों के कारण आर्थिक रूप से जर्जर हो चुका था । शिक्षा का स्वरूप रूढ़िग्रस्त था, उस पर भी कुछ धनी लोगों के लिए शिक्षा के द्वार खुले थे । जन साधारण के लिए वह अप्राप्य वस्तु बनी हुई थी । उचित शिक्षा व चिन्तन के अभाव में समाज में कई प्रकार की कुप्रथाओं, मान्यताओं तथा धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के बाह्याडम्बरों का जन्म हो चुका था । भारतेन्दु युग में ब्रिटिश शासन पर दृष्टिपात करें तो प्रतीत होता है कि इस युग में ब्रिटिश शासन की नीति दोरंगी थी । कभी वह थोड़ी उदार हो जाती और कभी अति कठोर । कभी उदारतावश जनता संतोष की सांस लेती तो कभी शासन की कठोरता में आकण्ठ डूब कर आक्रोश से भर जाती थी । फिर भी विक्टोरिया की अन्य शासकों की अपेक्षाकृत "उदार नीति" ने भारतवासियों के असन्तोष को कुछ सीमा तक दूर कर राहत की श्वांस प्रदान की । देश में रेल, तार, प्रेस आदि उन्नति के आधुनिक साधन देखकर देशवासी फूले न समा रहे थे । रोगियों के लिये अस्पताल बनाये गये और सुरक्षात्मक पुलिस चौकियाँ स्थापित की गई । इसके साथ साथ अंग्रेजों ने धार्मिक स्वतंत्रता भी दे दी थी । इसलिए भारतीय जनता को

विक्टोरिया शासन अपेक्षाकृत सन्तोषप्रद व कल्याणकारी प्रतीत हुआ। भारतेन्दु इस युग को रामराज्य के समतुल्य मानते हुए कह उठे -

"राज में जाके सबै सुख-साज,

सुकीरत जासु न जात बखानी ।"[1]

लेकिन अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति ने भारतीय जनता की कमर तोड़ दी । ब्रिटिश शासन ने अत्याधिक धन प्राप्ति हेतु अनेक प्रकार "कर" लगा दिये । एक ओर चुंगी और लाइसेंस से भारतीय व्यापार को ठेस पहुंचाई तो दूसरी ओर कल कारखानों की स्थापना करके भारतीय लघु उद्योग धंधों को नष्ट कर देश को आर्थिक रूप से कमजोर बना दिया । एक इतिहासकार ने तद्युगीन परिस्थितियों का चित्रण करते हुए कहा है -" यों विक्टोरिया रानी के राज्य के बारह बरसों में भारत से धन की वार्षिक निकासी चौगुनी हो गई, और इस घाटे की पूर्ति के लिए जनता पर "कर" इके=विविध का बोझ पचास फीसदी बढ़ गया, जिससे "नमक" "कर" ही विभिन्न प्रान्तों में पचास से सौ फीसदी तक बढ़ा ।"[2] ब्रिटिश सरकार द्वारा रूपये का मूल्य बढ़ा दिये जाने पर गरीब किसान कर्ज़ की चक्की में पिसने लगे । सुख,शान्ति के केन्द्र गांवों में पीड़ा, अशान्ति व विपन्नता का ताण्डव हो रहा था । समाज के मुट्ठीभर उच्च वर्ग को छोड़कर अन्य सभी दरिद्रता का जीवन बिता रहे थे । अंग्रेज़ों की दमन नीति से जो कसर रह गयी थी,उसे अकाल और प्लेग जैसी विपत्तियों ने पूरी कर दी । तात्पर्य यह है कि उस समय जनता त्राहि त्राहि कर उठी । माता-पिता भूख की पीड़ा से ग्रस्त हो अपने बच्चों के बेच कर पेट की आग बुझाने लगे । दूसरी ओर देश का करोड़ों अनाज इंगलैण्ड भेजा जा रहा था ।

1- भारतेन्दु ग्रन्थावली - ब्रजरत्न दास - पृ0 867
भाग-2

2- इतिहास प्रवेश (राजस्थान संस्करण) - जयचन्द विद्यालंकार
(उद्धृत) -हिन्दी का समस्यापूर्ति काव्य -डा0 दयाशंकर शुक्ल -पृ0360

"ऐसो अकाल परो न कबो कि प्रजा मन में सुख को नहीं लेस है ।
बेचत मात-पिता लघु बालक,दुख अनाथन को अति बेस है ।"[1]

भारतेन्दु युग में देश की आर्थिक नीति के साथ साथ सामाजिक व्यवस्था भी बिगड़ चुकी थी । समाज में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, पर्दा प्रथा तथा विधवा तिरस्कार आदि बुराईयों का बोलबाला था। बाल-विधवाओं की दशा तो अत्यंत करूण थी । गुड़ियों से खेलने की अवस्था में ही स्वंय गुड़िया सी बालिका का विवाह कर दिया जाता, दुर्भाग्य से उसी अवस्था में वैवध्य मिल जाता तो उसका समस्त जीवन दुखों के कांटों से भर जाता । उसे देखकर प्रसन्न होने वाले माता-पिता उसकी मृत्यु की कामना करने लगते । वैसे भी समाज में नारी की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी । वह पुरूष की दासी पात्र रह गयी थी । उसके स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना तक करना दूर की बात थी । बाल कृष्ण भट्ट के नाटक "जैसा काम वैसा परिणाम" की मालती पुरूषों के अन्याय से क्षुब्ध होकर कहती है - "नारी के जन्म के समान घिनौना जन्म किसी का न होगा । जिसने पुर्बले में बड़े बड़े पाप कर रखे हैं वही स्त्री का जन्म पाते हैं । पराधीन, तिस पर भी अनेक यातना जैसे पिंजरे में बंद पखेरू हो ।"[2] भारतेन्दु जी के नाटक "प्रेम योगिनी" में नारी को "टके सेर" कहा है - "बनिता दास- "अरे गुरू, गली गली तो मेहरारू मारी फिरथीं तोहे एहू पर रोने बना है । अब तो मेहरारू टके सेर हैं । अच्छे अच्छे उमीरनो के घर की तो पैसा के वास्ते हाथ

1- रसिक वाटिका-भाग । -क्यारी-3,20 जून 1897 ई0-गंगा प्रसाद
1- उद्धृत - हिन्दी का समस्यापूर्ति काव्य -डा0 दयाशंकर शुक्ल -पृ0-360
2- जैसा काम वैसा परिणाम (भट्ट नाटकावली) बाल कृष्ण भट्ट-पृ091-92

फैलावत फिरथीं ।"[1]

इस युग में नारी के समान अछूत वर्ग भी अन्याय के थपेड़ों को सह रहा था । सर्वण हिन्दूओं की अमानवता पूर्ण अस्पृश्यता की इस नीति से हिन्दू समाज की एकता को धक्का लग रहा था । उच्च जाति के लोग न तो उन्हें अपने समतुल्य स्वीकार करते और न ही उनको स्वतंत्र करने के पक्ष में थे ।

इस प्रकार भारतेन्दु युग में भारतीय जनता धार्मिक बाह्याडम्बरों तथा सामाजिक अंधविश्वासों में बुरी तरह जकड़ी हुई थी । तर्कयुक्त चिन्तन के अभाव में धर्म के नाम पर व्यवसाय हो रहा था । पंडे, पुजारी और मौलवी ही जन-साधारण के भाग्य विधाता बने हुए थे । तात्पर्य यह है कि इस युग के भारत में सामाजिक, धार्मिक रूप से अंधकार व्याप्त था । ऐसी परिस्थितियों में ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म के प्रचार हेतु अंग्रेज़ी शिक्षा को माध्यम बनाया । ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने धर्म की स्थापना हेतु हिन्दू धर्म की बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जिसके परिणाम के दो पक्ष सामने आये - पहला पक्ष था धर्म परिवर्तन - तिरस्कृत अछूतवर्ग ईसाईयों का प्रेम, सेवाभाव और सुख सुविधा पाकर ईसाई धर्म स्वीकार करने लगा और दूसरा पक्ष था कुछ शिक्षित लोगों का जो हिन्दू धर्म में व्याप्त उन बुराइयों को दूर करने का प्रयास करने लगे । अत: उन्होंने हिन्दू धर्म को वैज्ञानिक अर्थ प्रदान करने की सफल चेष्टा की । अंग्रेजी पढ़ा-लिखा यह वर्ग परम्परागत कुप्रथाओं, रूढ़ियों, अंध विश्वासों से छुटकारा

1- प्रेमयोगिनी (भारतेन्दु ग्रन्थावली) - सं0 ब्रजरत्नदास- अंक 1 गर्भांक 1, पृ0 -329

2- हिन्दी प्रदीप (दुनिया दिन-दिन तरक्की करती जाती है-) (लेख) सं0 बालकृष्ण भट्ट - सितम्बर, 1906 ई0

पानेको छटपटाने लगा । अंग्रेज़ी शिक्षा ने शिक्षित वर्ग में स्वाभिमान की ज्योति प्रज्वलित को और वह गुलामी की जंजीरें तोडकर पुन: स्वाभिमान से जीने को व्यग्र हो उठा - "तालीम का असर लोगों पर इतना व्यापक है कि अपना गिरना उन्हें मालूम होने लगा है और अपने पुराने स्थान पर पहुंचने को तन-मन उत्सुक हो रहे हैं ।"[1] इसी छटपटाहट के परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी में विभिन्न सामाजिक - सांस्कृतिक आन्दोलन हुए जिन्होंने भारतीय समाज को गतिशील बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया । ब्रह्म समाज (1828) आर्य समाज (1875) प्रार्थना समाज (1867) रामकृष्ण मिशन (1898) थियोसोफिकल सोसायटी आदि संस्थाएं बहुविध रूप में समाज और व्यक्ति के अभ्युत्थान के लिए संघर्षरत थीं । इन संस्थाओं का मुख्य केन्द्र बिन्दु "नारी दशा" को सुधार कर उसे समाज में उचित सम्मान दिलाना था । बंगाल में "ब्रह्म समाज" के संस्थापक राजा राम मोहन राय ने पाश्चात्य शिक्षा व वैज्ञानिकता से उद्भूत नवीन चेतना एवं प्रगतिशील विचारों को अपनाने तथा समाज से "सती प्रथा" जैसी सड़ी गली कुरीतियों तथा कुप्रथाओं को दूर करने का आह्वान किया, तो उत्तर भारत में दयानन्द सरस्वती ने "आर्य समाज" की स्थापना के माध्यम से धार्मिक आडम्बरों, सामाजिक कुरीतियों पर कुठाराघात कर नारी शिक्षा, अछूतोद्धार आदि पर बल दिया । इन्हीं आन्दोलनों के फलस्वरूप "विधवा-विवाह", अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन हुआ और सती प्रथा, बाल-विवाह, अनमेल विवाह तथा अस्पृश्यता जैसी बुराईयों का निषेध किया गया । स्वामी राम कृष्ण परमहंस

1- हिन्दी प्रदीप (पत्रिका) (दुनिया दिन-दिन तरक्की करती जाती है (लेख) सं० बालकृष्ण भट्ट -सितम्बर 1906ई०

तथा उनके विद्वान शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म को सर्व धर्म में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर हिन्दुओं को स्वधर्म अभिमान तथा आत्म-गौरव का पाठ पढ़ाया । "जिन्होंने (स्वामी विवेकानन्द ने) न केवल समस्त भारत में, बल्कि अमेरिका और यूरोप में भी भारतीय दर्शन का प्रभाव जमा कर भारतीयों में स्वंय आत्मगौरव की भावना पैदा की और अभारतीयों में उनके प्रति आदर का भाव पैदा किया ।"[1] अँग्रेज़ी शिक्षा तथा पाश्चात्य स्वतंत्र विचारों ने भारतीय सुप्त समाज में क्रान्तिकारी नवीन चिन्तन उद्भूत किया ।

समाज में जागरूक भारतीय मन एक ओर सामाजिक रूढ़ियों व परम्पराओं की लक्ष्मण रेखा को लांघने का उत्सुक था, वहीं दूसरी ओर हृदय स्वतंत्रता का मूल्य समझकर विदेशी दासता से मुक्त हो "स्वराज्य" के लिए हिलोरे ले रहा था । तत्कालीन साहित्यकारों ने भी "राष्ट्रीय चेतना" से ओत-प्रोत रचनाएं लिख-लिख कर भारत-वासियों को जागृत किया । वे हिन्द वासियों को धर्म विरोध त्याग देश के कल्याण व उद्धार हेतु निमन्त्रण देने लगे ।

"हिन्द निवासी सबै, मत के, जन कहुं मेल-मिलाप बढ़ावें ।
धर्म विरोध विहाय सबै, मिलि देश उधारन में चित लावें ।"[2]

और कुछ साहित्यकार निराशा व शोक में आकण्ड डूबे भारतवासियों पर व्यंग्य कर उन्हें गतिशील बनाने का प्रयास कर रहे थे।

इसप्रकार जागरूक साहित्यकारों की अथक साधना, अँग्रेज़ी शिक्षा, यातायात के साधनों, छापाखाने की सुविधाओं तथा विभिन्न

1- साप्ताहिक हिन्दुस्तान -सं0 मनोहर श्याम जोशी-लेख-स्वाधीनता दिवस विशेषांक (1982 अगस्त) जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी -पृ0 15

2- काव्य कला निधि (मासिक) मई 1907 ई0-सं0लाला भगवानदीन "दीन" उद्धृत -हिन्दी का समस्यापूर्ति काव्य-डा0 दयाशंकर शुक्ल-पृ0 369

सामाजिक आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ सामाजिक जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं के प्रति विद्रोह की चेतना जागृत हुई । समाज में जहाँ एक ओर छूआछूत के भेदभाव मिटाने पर बल दिया गया वहीं विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि का समर्थन किया । नारी के प्रति सम्मान और समानता की भावना बलवती होने लगी । इन परिस्थितियों ने "नारी वर्ग" को सर्वाधिक प्रभावित कर उसमें आत्म विश्वास का विकास किया । इन समस्त गतिविधियों का प्रभाव तत्कालीन नाट्य साहित्य पर पड़ा -"उस समय सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक वितंडावाद के विरूद्ध जो घोर आन्दोलन चल रहा था उसका प्रभाव नाटककारों पर पड़ना स्वाभाविक था ।"[1]

भारतेन्दु अपने युग के प्रतिनिधि नाटककार थे । उन्हीं के भगीरथ प्रयास स्वरूप नाट्य गंगा पुन: प्रस्फुटित होकर वेगवती हुई । तत्कालीन सामाजिक आन्दोलनों के सकार्यों का प्रभाव उनके नाटकों में स्पष्टत: झलकता है । उनकी नाट्य रचनाओं में देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, नारी सम्मान और भारत की दुर्दशा से उत्पन्न वेदना कूट कूट कर भरी थी । आन्दोलनो के परिणाम स्वरूप सांस्कृतिक जागृति व नारी स्वाभिमान के जो नये आयाम विस्तृत हो रहे थे उनका चित्रण भारतेन्दु के नाटकों में सम्यक् रूप से परिलक्षित होता है । "विद्यासुन्दर" नाटक में उन्होंने माता-पिता की इच्छानुसार परस्पर वैवाहिक बन्धन में बंध जाने के स्थान पर वर और कन्या की स्वीकृति तथा स्वेच्छापूर्वक विवाह करने की ओर संकेत कर भारतीय रूढ़िग्रस्त विवाह का निषेध किया है । भारतेन्दु विधवा विवाह के समर्थक थे । उन्होंने "वैदिकी हिंसा-हिंसा

1- हिन्दी नाटक उद्भव को विकास - डा0 दशरथ ओझा - पृ0 -295

न भवति" नाटक में अपना अभिमत इन शब्दों में व्यक्त किया है । "पुनर्विवाह अवश्य करना । सब शास्त्र की यही आज्ञा है और पुनर्विवाह के न होने से बड़ा नोकसान होता है, ललनागन दुश्चली हो जाती है । जो विचार कर देखिये तो विधवागन का विवाह कर देना उसको नरक से निकाल लेना है और शास्त्र की भी आज्ञा है ।"[1]

भारतेन्दु से प्रभावित होकर तत्युगीन अनेक नाटककारों ने बाल-विवाह, अनमेल विवाह की बुराइयां दिखाकर विधवा विवाह तथा गन्धर्व विवाह के समर्थन को नाटक की कथावस्तु बनाया । श्री राधा कृष्ण दास ने "दु:खनी बाला" नाटक में नारी की दयनीय दशा का वर्णन कर, विधवा विवाह की स्वीकृति प्रदान की है । गोबर्धन दास अपनी सात वर्षीय पुत्री सरला का विवाह छ: वर्षीय बालक कल्लू के साथ कर देते हैं जो काला, एक आंख का काना, कुरूप तथा निरक्षर है । कालान्तर में सरला विधवा हो जाती है । वह अपनी मां से पुनर्विवाह के लिए आग्रह करती है । - "अच्छा जो हुआ सो हुआ अब आप हमारा विवाह फिर करवा दीजिये ।"[2] किन्तु रूढ़ियों से ग्रस्त माता सामाजिक भय से घबराकर मना कर देती है । सरला मां से तर्क करते हुए कहती है-"हां, विधवा विवाह में इन लोगों ने न मालूम क्या दोष निकाला है । वह तो वेद-पुराण सबमें लिखा है कि विधवा विवाह कराना चाहिये । देखिए पं0 ईश्वर चन्द विद्यासागर ने निर्णय किया, पर आप काहे को समझ सकेंगी - अब इन ब्राह्मणों की बदौलत मैं कैसे जीने पाऊंगी । भगवान इनका बुरा करे ।"[3] और अन्त मेंसमाज का विरोध न कर

1- भारतेन्दु ग्रन्थावली-भाग । -सं0 ब्रजरत्न दास-पृ0 73
"वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति"

2- दु:खिनी बाला - राधाकृष्ण ग्रन्थावली - पृ0 562

3 - - वही- -वही- पृ0 563

पाने के कारण दुखी हो सरला आत्महत्या कर लेती है । किन्तु इतना स्पष्ट है कि विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों के कारण समाज और विशेषत: नारी वर्ग में चेतना का निर्मल स्रोत फूट पड़ा था । नारी विधवा के नारकीय जीवन के विरूद्ध छटपटाने लगी थी । अपने स्वाभिमान को समझने लगी थी । वैवध्य को कर्मों का फल न मान कर पंडितों पुराहितों की मक्कारी को समझ चुकी थी । उस युग की नारी अपने विद्रोह को निम्न शब्दों में व्यक्त करने लगी - "भगवान ने हमारी ऐसी कमबख्त जात बनाई है कि शीशै के समान एक बार टूटा टूटा सो टूटा, फिर बिगड़ा नहीं बनता, इन पुरोहितों और उपाध्यायोंका सत्यानास हो जाय जिन्होंने झूठे ग्रह बताकर मेरी प्यारी बेटी का गला घोंटा"[1] इस युग के नाटककारों ने बाल-विवाह और अनमेल विवाह की समस्या पर भी जनता का ध्यान किया । जिनमें देवकी नन्दन त्रिपाठी का "बाल विवाह" (138। ई0) पं0 देवकी प्रसाद शर्मा का "बाल्य विवाह नाटक (1884 ई0) पं0 देवदत्त मिश्र कृत "बाल्य विवाह दूषक" (1885 ई0) तथा छुट्टन लाल स्वामी का "बाल्य विवाह नाटक" (1889 ई0) आदि नाटक प्रमुख हैं । देवदत्त मिश्र ने "बाल्य विवाह दूषक" नाटक में बेमेल विवाह का भी चित्रण किया है । इसकी नायिका युवा है जबकि उसका पति अभी बालक है । युवा नायिका की सहज मनोस्थितियों, कामनाओं, आकांक्षाओं का उद्घाटन इस नाटक में बखूबी किया गया है । गोपाल राम गहमरी ने "विद्या-विनोद (1862) में भी इसी प्रकार की समस्या को उठाया है । किन्तु इस नाटक की नायिका विद्या साहसी एवं जागरूक है ।

1- विधवा संताप - काशीनाथ खत्री - पृ0 28

वह अपने वृद्ध मंगेतर को छोड़कर अपने प्रेमी से विवाह करने का दृढ़ निश्चय कर लेती है । वह शिक्षित और स्वाभिमानी नारी है । अनमेल विवाह के समर्थक पिता के विरूद्ध कहती है -" हे प्रभो । ऐसे पिता का मुख देखना भी पातक है ,क्या करूं असमर्थ हूं । "[1]

तत्कालीन नाटकों के विवेचन इतना स्पष्ट हो जाता है कि समाज सुधार आन्दोलनों के परिणामस्वरूप समाज में "वैयक्तिक चेतना" का आलोक फैलता जा रहा था । दयनीय नारी शिक्षा का सम्बल पाकर सबल बनने लगी । वह पुरूष के अत्याचारों के विरूद्ध आवाज बुलन्द करने लगी थी । यद्यपि ऐसी नारियों की संख्या अंगुलियों पर गिनने लायक भर थी । पं0 बाल कृष्ण भट्ट ने अपने नाटक "जैसा काम वैसा परिणाम" की नायिका को साहसी चित्रित किया है जो सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति विद्रोह करती है । नायिका मालती अपने शराबी पति को सही रास्ते पर लाने के लिए अपनी सखी से, जो पुरूष वेश में है ,हंस हंस कर बातें करती है । पति यह देखकर क्रोध से भड़क उठता है । मालती स्वाभिमान व स्व अस्तित्व की भावना का परिचय देते हुए कह उठती है -"क्यों नहीं, क्या हमारा आदमी का चोला नहीं है ? या कि हमारी देह लोहू मांस की नहीं है । क्या हमारे मन नहीं हैं ? क्या हमारे इन्द्रियां नहीं हैं? क्या हमको सुख-दुख का ज्ञान नहीं है ? हम तो कोई चीज़ ही न ठहरी और फिर तुम हमारा बड़ा सत्कार करते हो न ?"[2] इस प्रकार नारी सामाजिक व्यवस्था का विरोध करने लगी थी । जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह लगा रही थी, किन्तु पुरूष प्रधान समाज के समक्ष विवश भी थीं । तद्युगीन नारी में "वैयक्तिक

1- विद्या विनोद -गोपाल राम गहमरी-अंक 4 गर्भांक-2-पृ0-40
2- जैसा काम वैसा परिणाम (भट्ट नाटकावली)-पं0 बालकृष्ण भट्ट-पृ0-123

चेतना" की चिन्गारी फूटी थी, जिसे ज्वालामुखी बनने की अभी देर थी, इसलिए उस चिन्गारी को परिस्थितियाँ दबा देती थीं। नारी में अभी इतना साहस नहीं था जो समाज से सीधी टक्कर ले सके, उसकी व्यवस्था का खुल कर विरोध कर सके। स्वाभिमान का बोध उसे हो चुका था किन्तु स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना उसे नहीं थी। "दु:खिनी बाला" की सरला का आत्महत्या करना और "जैसा काम वैसा परिणाम" की मालती का शराबी जुआरी व्यभिचारी पति विद्रोह करते हुए भी समझौता करना- आदि इस तथ्य के सटीक उदाहरण हैं।

पूर्व विवेचन में संकेत दिया जा चुका है कि समाज में समानता, मानवता तथा नारी अस्तित्व आदि के कारण "अन्तरजातीय विवाह" पर विशेष बल दिया गया। नाटककारों ने भी इस स्वस्थ मान्यता का समर्थन किया। लाला श्री निवास अपनी धारणा को "तप्ता संवरण" नाटक में व्यक्त करते हुए कहते हैं -"जो बेटी का दु:ख सुख नहीं देखते वे अपनी बेटी को जन्म भर का दुख देते हैं। हमारे वंश वालों ने कन्या की प्रसन्नता के लिए स्वंयवर की रीति रक्खी है पर गांधर्व विवाह उस्मै भी उत्तम है।"[1] गान्धर्व विवाह के समर्थ में युवा पीढ़ी भी बल दे रही थी। त्रिपाठी बिन्ध्येश्वरी प्रसाद राम के "मिथिलेश कुमारी" नाटक के नायक-नायिका दोनों गान्धर्व विवाह को सामाजिक विकास के लिए उपयोगी मानते हैं। नायक कुमार माधव सिंह नायिका केतकी से कहता है -"मैंने विद्योपार्जन करते समय यह निश्चित कर लिया था कि अपना विवाह उस कन्या के साथ करूंगा जो शास्त्राध्ययन किये होगी और साथ उसके सर्वगुण सम्पन्न, सुशील तथा रूपवती भी होगी।"[2]

1- तप्ता-संवरणा - लाला श्री निवास दास - भरत वाक्यम् से।
2- मिथलेश कुमारी - त्रिपाठी विध्येश्वरी प्रसाद राम - पृष्ठ 56

नायिका केतकी भी कहती है -"मैंने भी अपनी कुमारावस्था में कुछ ऐसा ही प्रण किया था ।"[1]

भारतेन्दु युगीन नाटककारों का ध्यान न केवल सामाजिक बुराइयों पर केन्द्रित था, अपितु धार्मिक बाह्याडम्बरों पर कुठाराघात कर वैज्ञानिकता तथा मानवता पर आधारित "धर्म" की स्थापना करना वे अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे । इसलिए उन्होंने अपनी नाट्य रचनाओं में धार्मिक कुरीतियों तथा धर्माचार्यों के पाखण्डों का पर्दाफाश किया है । विभिन्न सांस्कृतिक आन्दोलनों द्वारा "धर्म" का जो रूढ़ स्वरूप था उसे परिष्कृत किया जा रहा था उसकी अभिव्यक्ति भारतेन्दु ने "वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति" नाटक में की है । उन्होंने तथाकथित धर्माचार्यों पर कठोर प्रहार करते हुए व्यंग्य किया है -"टके टके पर धर्म छोड़ कर इसने मनमानी व्यवस्था दी, दक्षिणा मात्र दे दीजिये फिर जो कहिये उसी में पंडित जी की सम्मति है ।"[2] इसी प्रकार "प्रेम जोगिनी" नाटक में तीर्थ स्थानों में व्याप्त भ्रष्टाचार को उद्घाटित किया है । इसी तथ्य पर आधारित - शिवराम वैध कृत "होलिका दर्पण" पं0 देवदत्त शर्मा का "दिवारी के ज्वारी" आदि अन्य नाटकों में धार्मिक बाह्याडम्बरों पर व्यंग्य कर उन्हें दूर करने का प्रयास किया गया है । और जन साधारण में "धर्म" के प्रति नवीन चिन्तन एवं स्वस्थ दृष्टिकोण पनपने के लिए स्वच्छ वातावरण निर्मित किया गया है ।

इस प्रकार भारतेन्दु काल से विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अंग्रेज़ी शिक्षा, पाश्चात्य सम्पर्क तथा विज्ञान आदि के कारण

1- मिथलेश कुमारी -त्रिपाठी विध्येश्वरी प्रसादराम -पृ0 58

2- वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति - भारतेन्दु ग्रन्थावली-1 -अंक 4 सं0 (ब्रजरत्नदास) पृष्ठ-89-90

Smt. HANSA MEHTA LIBRARY • THE M.S. UNIVERSITY OF BARODA •

भारतीय समाज में नई विचार धाराएं उत्पन्न और विकसित होने लगीं। अंग्रेजी शासन से अपेक्षाकृत राहत मिल जाने से भारतीय जनता में असन्तोष की लहर व्याप्त थी फिर भी जागरूक नागरिक देश की गुलामी से व्याकुल थे। देश की जिस वस्तु पर, धन पर, उनका अधिकार होना था वह विदेश चली जाती है- यह बात उन्हें भीतर ही भीतर कचोट रही थी। भारतेन्दु कहते हैं -

'अंग्रेज राज सुख साज सब भारी,
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।'[१]

इन्हीं जागरूक नागरिकों ने देश को जागृत करने का बीड़ा उठाया, विभिन्न आन्दोलनों द्वारा समाज की बंद खिड़कियों को खोला जिससे शुद्ध वायु, शुद्ध विचार आकर उसकी सीलन को मिटा सकें। भारतीय संस्कृति की रक्षा हेतु उन्होंने पाश्चात्य के प्रगतिशील चिन्तन को अपनाया और देश में उनका विस्तार किया। नारी के महत्व को फिर से आंका गया और उसे पुन: समाजोद्धार तथा देश निर्माण के लिये निमंत्रण दिया गया। शिक्षा तथा विविध आन्दोलनों का सहारा पाकर नारी कदम-कदम चलने लगी। पर अभी उसे पुरुष रूपी बैसाखी की आवश्यकता अनुभव हो रही थी। इसलिये वह पुरुष प्रधान समाज के अत्याचारों का विरोध दबे स्वर से कर रही थी। खुलकर विद्रोह करने का साहस उसमें नहीं आया था। नारी की भांति अछूत वर्ग की भी यही स्थिति थी। वह अपने स्वाभिमान के प्रति जागरूक अवश्य हो गया था पर आवाज ऊंची करने का समय अभी नहीं आया था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि उस समय 'वैयक्तिक चेतना' अपना सिर ऊंचा उठाने का अथक प्रयास कर रही थी, जो

१- वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति- भारतेन्दु ग्रन्थावली-१ सम्पादक- ब्रजरत्नदास, अंक ४ पृष्ठ ८६-६०

कालान्तर में अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर तीव्र होती गई । तत्कालीन युग की `वैयक्तिक-चेतना` आदर्श- चेतना का पुट लिये `व्यावहारिक चेतना` थी । अर्थात् आदर्शोन्मुखी `व्यावहारिक-चेतना` थी ।

गांधी युग :

बीसवीं शताब्दी में गांधी ऐसे नेता हुए जिन्होंने `राजनीति` के साथ-साथ समाज, धर्म एवं व्यक्ति को चिन्तन के विस्तृत आयाम प्रदान किये । उन्होंने ऊंच-नीच के भेद को मिटा कर सर्वधर्म समन्वय पर बल दिया । साथ ही सत्य, अहिंसा, त्याग, प्रेम, संयम आदि को व्यावहारिक स्वरूप दिया- `उन्होंने न केवल भारतीय समाज के सोये हुये आत्मविश्वास और नैतिक बल को जागृत किया, अपितु उसे आधुनिक युग के अनुरूप नूतन रूप भी प्रदान किया ।`[१] सामाजिक आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप नारी में जो अस्तित्व बोध का भाव अंकुरित हुआ था, इस युग में वृक्ष का रूप धारण करने लगा । गांधी जी के असहयोग आन्दोलन में नारी ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया । कमला नेहरू, सरोजिनी नायडू, विजय लक्ष्मी पंडित, जैसी नारियों ने आत्म शक्ति का परिचय देकर नारी जगत को गौरव मंडित कर दिया । जिसके फलस्वरूप नारी वर्ग में हलचल मच गई । वह सामाजिक मर्यादा के नाम पर खींची गई लक्ष्मण रेखा को लांघ कर खुले मैदान में निकल आई । सन् १९१९ के चुनाव में भारतीय नारी को मतदान के अधिकार ने बराबरी का दर्जा दिलवाया । नारी वर्ग के समान दयनीय अछूत वर्ग के उत्थान के लिये भी गांधी जी तथा अन्य नेताओं ने संघर्ष किया । डा० अम्बेडकर के नेतृत्व में इस वर्ग का गठन किया गया तथा उनके उद्धार के लिये अनेक विध कार्य किये गये ।

१- हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास-प्रधान सं० डा० नगेन्द्र पृ० ४५
(एकादश भाग)

कहा जा चुका है कि अंग्रेजी शासन स्थापित हो जाने पर अंग्रेजी शिक्षा का व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार होने लगा। जिसके परिणाम स्वरूप एक उज्ज्वल पक्ष सामने आया कि पाश्चात्य प्रगतिशील विचारों का देश में आगमन होने लगा। पश्चिम से उठी मार्क्सवादी लहर ने विश्व भर के मजदूर वर्ग को आलोड़ित किया। इसका कुछ प्रभाव भारतीय समाज पर भी पड़ा। इसके अतिरिक्त हो रहे नित नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों आदि ने भी व्यक्ति के बद्धमूल जीवन में अस्थिरता उत्पन्न कर दी। सामाजिक व पारिवारिक जीवन की पुन: व्याख्या होने लगी। आधुनिक युग की इस बढ़ती बौद्धिकता से नैतिकता को आघात पहुंचा। व्यक्ति धार्मिक व नैतिक मूल्यों को नये सिरे से विचारने पर विवश हो उठा। परम्परागत विवाह, पवित्रता, प्रेम, आदर्श तथा यौन-सम्बंधों पर प्रश्न चिन्ह लगने लगे। और व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिये संघर्ष करने लगा। -'नई चेतना के संघात से इस संक्रमण काल के व्यक्ति को ऐसा प्रतीत हुआ कि वह सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं मानसिकता आदि अनेक बंधनों में जकड़ा हुआ है। वह यह अनुभव करने लगा कि वह परिस्थितियों का स्वामी नहीं, वरन् दास है। रूढ़िबद्ध सामाजिक मूल्यों को अपनाकर वह स्वयं ही एक बन्धन में पड़ा हुआ है। इस बन्धन में उसका अपना निजी सामर्थ्य, उसकी निजी आकांक्षाएं एवं उसका निजी व्यक्तित्व कुंठित हो गया। फलत: प्रतिक्रिया रूप में परम्पराओं के प्रति विद्रोह की भावना जागृत हुई।'[१]

गांधी युग की इस नई विचारधारा, नारी जागरूकता और नवीन मान्यताओं को तद्युगीन नाटककारों ने अपनी नाट्य रचनाओं की कथावस्तु बनाया। इन नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, पृथ्वीनाथ शर्मा, रमेश मेहता आदि उल्लेखनीय हैं। मिश्र जी एक ऐसे यथार्थवादी नाटककार के रूप

१- हिंदी समस्या नाटक-डा० मन्धाता ओझा- पृ० १०-११

में प्रतिष्ठित हैं जिनके पात्र मिथ्या आदर्श व परम्परागत कुरीतियों को विज्ञान व शिक्षा के आधार पर नकारते हैं। 'सन्यासी' नाटक की नायिका किरणमयी शिक्षिता तथा आधुनिक विचारों की नारी है। वह बलपूर्वक सतीत्व का आवरण ओढ़े रहना नहीं चाहती - ' मैं सोचती ह तो हूं, लेकिन मैं जेलखाने में नहीं रह सकती। मैं तुम्हारा विश्वास करती हूं----- तुम मेरा विश्वास करो। तुम इधर-उधर मिस-मैमों से मिला करते हो। मुझे भी अपने मित्रों से से मिलने दो।------।'[१] इसी प्रकार उदयशंकर भट्ट के नाटक 'कमला' की शिक्षित नायिका 'नारी स्वतंत्रता' की घोषणा इन शब्दों में करती है - ' मैं स्त्री की स्वतंत्रता में विश्वास करती हूं, उसके इधर-उधर ताकने-फांकने में नहीं।'[२] तत्कालीन युग की नारी अपनी अस्मिता को पहचानने लगी थी और परम्परागत जीर्ण-शीर्ण विचारों का खुलकर विरोध करने का साहस उनमें आ गया था। 'अलग-अलग रास्ते' की नायिका रानी अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये धन लोलुप किन्तु प्रेम शून्य पति की उपेक्षा करती है। और कुलवधू की मर्यादा के नाम पर थोपी गई नैतिकता को नकारती है। अपने रूढ़िवादी पिता की चुनौती पर-' तू अपने पति के साथ जायेगी या इस घर में भी नहीं रहेगी।'[३] पर उत्तर देती है- ' मैं इस घर को भी नमस्कार करती हूं'[४]- कहकर वैवाहिक मर्यादा के नाम पर रूढ़िवादी मान्यताओं के प्रति विद्रोह का स्वर बुलन्द करती है। 'रोटी और बेटी' की नलिनी ~~मर्कबिक~~ तो रानी से भी एक कदम आगे बढ़कर हरिजन युवक राजीव से प्रेम विवाह करती है। 'सिन्दूर की होली'

१- सन्यासी- लक्ष्मीनारायण मिश्र-अंक-२ पृ०१०७(द्वितीय संस्करण)

२- कमला- उदयशंकर भट्ट-अंक-१, दृश्य-१, पृ० १६

३- अलग-अलग रास्ते- लक्ष्मीनारायण मिश्र- पृ० 32

४- वही- -वही- पृ० 33

नाटक की नायिका चन्द्रकला अपने पिता मुरारीलाल की इच्छा के विरुद्ध मृत्युशैया पर पड़े अपने प्रेमी रजनीकान्त के हाथ से मांग में सिन्दूर भर कर स्वच्छ इच्छा का परिचय देती है। वह उस व्यक्ति से विवाह नहीं करती, जिसको वह हृदय से प्रेम नहीं करती। और घर त्याग कर आत्मनिर्भर बन जाती है -' आपने कृपा कर मुझे इतनी शिक्षा दे दी है कि मैं अपना निर्वाह कर सकूं।'[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन युग में शिक्षा तथा पाश्चात्य विचारों ने नारी के आत्म विश्वास तथा स्वाभिमान के भाव बोध को अत्यधिक बल दिया। नारी अपनी आन्तरिक शक्ति को पहचान कर अपने विकास में बाधक बनने वाले तथ्यों को साहस से दूर करने लगी। अपने अधिकारों के लिये समाज से टक्कर लेने लगी। स्वतंत्र अस्तित्व की भावना ने ही उसे आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा दी। इस युग की नारी यद्यपि माता-पिता का विरोध कर, प्रेम विवाह और अन्तर्जातीय विवाह कर आत्मशक्ति का परिचय दे रही थी, किन्तु व्यक्तिगत सुरक्षा और समाज के भय से पति के अत्याचारों से त्रस्त होकर भी उससे सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर पाती थी। किरणमयी (सन्यासी), कमला (कमला) सरूप (खिलौने की खोज) आदि ऐसी ही नारियां हैं।

जैसा कहा जा चुका है कि गांधी जी व अन्य नेताओं के प्रयास स्वरूप समाज में अछूतोद्धार व समानता की भावना बलवती होने लगी थी, जिसने निम्न-वर्ग में अभूतपूर्व चेतना का विस्तार किया। वह ऐसे समाज को धराशायी करने पर तुल गया - जहां ऊंच-नीच के भेद विद्यमान हों।' तो क्यों न आग लगा दी जाए ऐसे समाज को जो इन्सान को इन्सान नहीं पशु समझता है।'[2] आधुनिक

१- सिन्दूर की होली- लक्ष्मीनारायण मिश्र- पृ०

२- रोटी और बेटी- रमेश मेहता- पृ० ५६ मृ अंक-३

बौद्धिक युग में शिक्षित व्यक्ति जातिगत भेदभाव व अस्पृश्यता की भावना को समाज का नासूर मान रहा है, जिसके कारण समाज की धमनियों में रक्त का प्रवाह रुक -सा गया है। `कोई न पराया` नाटक में जातिगत भेद को समस्त बुराइयों की जड़ मानते हुए कहा है-` वे वर्ण व्यवस्था को भारत की पुरानी बीमारी समझते हैं ------- उजमराव जी कह रहे थे, इस देश की आधी बीमारी दूर हो जाये यदि यह कानून बना दिया जाये कि कोई भी अपनी जाति में शादी न करें। उसके बाद न जाति रहेगी न दहेज।`[१] इस प्रकार तत्कालीन नाटकों में युग की परिस्थितियों से प्रभावित हो मुखर होती निम्न वर्ग की चेतना स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

अतः कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग के नाटककारों ने उच्च वर्ग विशेषकर `ब्राह्मणवाद` और उनके पाखण्डों पर व्यंग्यात्मक प्रहार किये हैं किन्तु निम्न वर्ग को उच्च वर्ग के समकक्ष उपस्थित नहीं किया था, लेकिन गांधी युग में नवीन विचार पनपने के कारण निम्न जाति उत्तरोत्तर जागरूक होती गई और स्वयं अपने अधिकारों के लिये संघर्षरत हो गई। इसी प्रकार नारी भी अपने अस्तित्व और अधिकारों के प्रति जागरूक होती गई और ~~समस्त~~ आज भी समाज में अपना स्थान पाने के लिये संघर्ष रत है। गांधी युग में वैज्ञानिक उन्मेष तथा पाश्चात्य चिन्तन के कारण तर्कवादी दृष्टि विकसित होने लगी थी। परिणामतः उस समय विवाह, नैतिकता, धार्मिकता आदि को तर्क के आधार पर परखा जाने लगा। अतः उस समय व्यावहारिक चेतना `आदर्श` की ओर से विमुख हो शनैः शनैः यथार्थ के धरातल को स्पर्श करने लगी।

तत्पश्चात् द्वितीय विश्व युद्ध की भीषण परिस्थितियों ने समस्त

१- कोई न पराया- जगदीश प्रसाद अंक-१, दृश्य-३ पृ० २५

संसार को के नैतिक व धार्मिक मानदण्डों को हिला दिया। व्यक्ति नैराश्य तथा भय के वातावरण में डूब गया। द्वितीय विश्व युद्ध का प्रभाव अपना रंग दिखा ही रहा था कि भारत की स्वतंत्रता के साथ हुये देश- विभाजन ने देशवासियों को एक और आघात लगाया। भारत - विभाजन के समय हुये भीषण नर- संहार के परिणाम स्वरूप मानवतावादी चेतना कुंठित हो गयी और व्यक्ति का 'आदर्श चेतना' से विश्वास उठ गया। नैतिकता, सद्भाव, परोपकार, मैत्री, भाई-चारे, त्याग आदि शाश्वत मूल्यों पर परिस्थितियों की धूलि जमने लगी। स्वतंत्र देश की राजनीति में 'सत्ता प्राप्ति' मुख्य उद्देश्य बन गया। नेतागण देश कल्याण की बात भूल कर स्वउदर पूर्ति में संलग्न हो गये। समाज में विस्थापितों की समस्या के साथ- साथ बेरोजगारी, खाद्यान्न की कमी, आवास की कमी आदि अन्य अनेक समस्यायें सुरसा की भांति मुंह खोले खड़ी थी। जनसंख्या में होती निरन्तर वृद्धि ने इन समस्याओं को और भी अधिक जटिल बना दिया। इन परिस्थितियों ने 'वैयक्तिक-चेतना' को भी अछूता न रखा। परिणाम स्वरूप वह संकीर्णता के घेरे में निबद्ध होती गई। उसमें सामाजिकता-

(कृ० पृ० पलटिए)

की भावना का ह्रास होता गया । उसके स्थान पर "स्व" पर केन्द्रित नैराश्यपूर्ण, स्वार्थयुक्त "वैयक्तिक चेतना" का विकास होने लगा।

सद्यः स्वतंत्र भारत की अन्य परिस्थितियों से "वैयक्तिक चेतना" के एक और पक्ष का स्वरूप उजागर हुआ जिसे "व्यक्तिवाद" की संज्ञा दी गई ।

स्वातंत्र्योत्तर काल में वैयक्तिक चेतना :- {सन् 1947 से सन् 1960 तक}

स्वाधीनता पूर्व की विभिन्न सामाजिक ,सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के बीच विकसित होती हुई "वैयक्तिक चेतना" को किस प्रकार प्रभावित किया ,इसका विवेचन पृष्ठभूमि में किया जा चुका है और स्वाधीनता के पश्चात् राजनैतिक,सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से तत्कालीन "वैयक्तिक चेतना" को किस रूप में प्रभावित हुई ,इसका विश्लेषण कर लेना समीचीन होगा । पिछले अध्याय में "वैयक्तिक चेतना" के विभिन्न रूपों की हमने चर्चा की थी यथा- आदर्श चेतना, यथार्थ चेतना, व्यावहारिक चेतना और भौतिक चेतना । यहाँ यह देखना है कि चेतना के उक्त भेदों में से किस रूप को विभिन्न परिस्थितियों के मध्य गुजरते हुए कितना और कैसे प्रभावित होना पड़ा है ।

आदर्श चेतना =

पूर्ववर्त्ती पृष्ठों में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि पूर्वयुगीन समाज की समाजिक , सांस्कृतिक व राजनैतिक परिस्थितियाँ निरन्तर "वैयक्तिक चेतना" का प्रसार करती गईं । विभिन्न समाज -सुधार आन्दोलनों ने आदर्शवादी एवं नैतिक दृष्टिकोण के परिपेक्ष्य में सामाजिक हित के कार्य किये । यद्यपि इनका चिन्तन व्यक्तिगत आधार पर पनपा था किन्तु उस चिन्तन में समष्टिगत हित ही आभासित होता है ।

पूर्व विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतेन्दु युगीन

परिस्थितियों तथा समाज सुधार कार्यों के परिणामस्वरूप देश की स्वाधीनता क्र= व कल्याण हेतु जो आदर्श "राजनैतिक चेतना" पुनर्जागृत हुई थी, उसने समाज में अत्याचार सह रहे वर्गों का उत्थान कर "व्यक्ति" के महत्व को प्रतिपादित किया । दूसरे शब्दों में कहें तो रूढ़ समाजके प्रति आक्रोश अभिव्यक्त करके वैयक्तिक स्वातंत्र्य के स्वर को मुखरित किया । इस प्रकार "वैयक्तिक चेतना" समाज से हटकर व्यक्ति पर केन्द्रित होने लगी । किन्तु भारत विभाजन के समय हुए भीषण रक्त-पात को देखकर मानवता की आंखों में आंसू आ गये । "आदर्श चेतना" का ढांचा चरमरा उठा और यथार्थ चेतना" की नींव पर नयाढांचा सुदृढ़ होने लगा।

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वतंत्रता से पूर्व भारत की राजनीति सोद्देश्य थी । उस समय देश के नेताओं की आंखों में आजादी का मधुर स्वप्न पल रहा था । इसलिए तत्कालीन नेता देश कल्याण, देश भक्ति के सम्मुख स्वंय को नगण्य मानता था । आदर्शयुक्त राजनीति की यह लहर सद्य: स्वतंत्र भारत में कुछ समय तक बनी रही । नेतागण व्यक्ति के विकास, देशहित आदि के लिए तत्पर थे । भारतीय सवैधानिक अधिकारों के अन्तर्गत समानता तथा स्वतंत्रता के अधिकार देशवासियों को मिले जिन्होंने नारी वर्ग व निम्न वर्ग को विशेष रूप से प्रभावित किया । किन्तु नई नई आजादी प्राप्त भारत में जहां एक ओर राम राज्य की कल्पना थी,वहीं दूसरी ओर लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अनेक प्रकार की बाधाएं भी उपस्थित थी । परन्तु यह देश का सौभाग्य था कि उस समय महात्मा गांधी,वल्लभ भाई पटेल और जवाहर लाल जैसे आदर्शवादी नेता भी विद्यमान थे जिनके सिद्धान्तों के कारण देश में आदर्श व नैतिकता से युक्त राजनीति का वातावरण बना हुआ था ।

स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं0 नेहरू ने देश में औद्योगीकरण तथा वैज्ञानिकता की आवश्यकता को अनुभव करके देश में बड़े-बड़े कल-कारखानों की स्थापना पर बल दिया ,जिसके फलस्वरूप गाँवों के युवक शहरों में आकर बसने लगे लेकिन साथ साथ गाँवों में भी जुड़े रहे। इस प्रकार ग्राम्य जीवन में अनायास ही आधुनिक चेतना का प्रचार-प्रसार होता गया । स्वाधीनता के उपरान्त ग्रामीण लघु किसानों तथा मजदूरों को सामंत वर्ग एवं राजा-महाराजाओं के शोषण से मुक्त कर उन्हें स्व अधिकारों के प्रति सचेत किया । इस प्रकार तत्कालीन परिस्थितियों ने "व्यावहारिक चेतना" को फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया ।

स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक प्रणाली ने "आदर्श वैयक्तिक चेतना" को मुख्य रूप से प्रभावित किया । विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं, "औद्योगिक विकास आदि नीतियों ने जहाँ एक ओर देश के आर्थिक ढाँचे को मजबूत बनाने में असाधारण योगदान दिया,वहीं दूसरी ओर समाज में आर्थिक असंतुलन को बढ़ावा भी दिया । परिणामत: देश में वर्ग चेतना की खाई चौड़ी होती चली गई । जिसके कारण "आदर्श चेतना" "अर्थ" के आधार पर "भौतिक चेतना" की ओर उन्मुख होने लगी ।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि नव स्वतंत्र भारतीय समाज में "आदर्श वैयक्तिक चेतना" का स्थान बना हुआ था । राजनीति पंचशील के सिद्धान्तों, देशप्रेम ,त्याग आदि से जुड़ी हुई थी, किन्तु शनै: शनै: आर्थिक विषमता चुनाव,प्रणाली तथा सत्ता लोलुपता आदि की आँधी आदर्श चेतना" के कोमल पुष्प को बिखेरने लगी थी, जिस पर समयाभयिक परिस्थितियों के तुषार पात ने इस पुष्प के पुन: विकसित होने की आशा को क्षीण कर दिया ।

. . . 61

यथार्थ चेतना :-

पूर्व विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अठारहवीं उन्नीसवीं में हुए विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों ने बहुविध रूप में युगानुकूल सुधार किये जिनके फलस्वरूप देश में एक ओर राजनैतिक जागृति आई और दूसरी ओर सद्भावना, एकता, कर्तव्यनिष्ठा आदि के भाव सुमन विकसित हुए साथ साथ धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों को परिष्कृत कर समाज को गतिशील बनाया। नारी वर्ग और अछूत वर्ग के प्रति नवीन भाव बोध उद्भूत हुए तथा व्यक्ति के महत्व को नये सिरे से स्थापित किया जाने लगा। जबकि द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका ने व्यक्ति की मानवता को झकझोर दिया। व्यक्ति के मन में निराशा, कुंठा, आतंक, भय आदि की दुर्बल प्रवृत्तियाँ घर करती चली गई और व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति शंकित हो उठा। परिणामस्वरूप व्यक्ति की आदर्श व नैतिकता के प्रति आस्था खण्डित होती चली गई। परिस्थितिवश फूटे इस ज्वालामुंखी का लावा भारत भूमि तक भी पहुंचा जिसने यहां की हरी-भरी भूमि को झुलसाना आरम्भ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप "आदर्श चेतना" के स्थान पर "यथार्थ चेतना" बलवती होती गई। जिसने नैतिकता, सद्भाव, मैत्री, परोपकार, भाई-चारे इत्यादि के मूल्यों पर प्रश्न सूचक चिन्ह लग गये। पूर्व ही "यथार्थ चेतना" पनपने लगी थी। किन्तु उस समय भारतीय जनता व नेता में आजादी प्राप्त करने का उत्साह था इसलिए देश का आबाल-वृद्ध एक जुट होकर स्वतंत्रता प्राप्ति में हुआ था। इसीलिए तत्कालीन भारत में "यथार्थवादी चेतना" को विकसित होने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ लेकिन आजादी मिलने पर भारत के स्वप्न "बालू के महल" के सामने ढहते चले गये। बढ़ती जनसंख्या, मंहगाई, बेरोज़गारी और

स्वार्थप्रवृत्ति ने देशवासियों के उत्साह व उमंगों पर पानी फेर दिया-

"क्या विधना का विधान, स्वतंत्रता पाके भी भारत में परेशानी,
अन्न बिके सवा सेर रूपै, धृत तेल रहे कहिबे की कहानी ।।
दूध की बात न कीजै कछु , मिलती नहीं शुद्ध हवा अरू पानी ।।
रानी भी आज गिरानी के कारण, पेन्हती है तन साड़ी पुरानी ।।"[1]

इस प्रकार भारत की निराश, भग्नस्वप्ना, साम्प्रदायिकता की हिंसा से डरी-थकी जनता "यथार्थ चेतना" की ओर बढ़ती गई और साठोत्तर समाज की विषम परिस्थितियों में उत्तरोत्तर विकसित होती गई ।

राजनैतिक क्षेत्र में भी "वैयक्तिक स्वतंत्रता" तथा "वोट प्रणाली" ने असुन्दर पक्ष को अधिक उभारा । सत्ता प्राप्ति तथा स्वार्थ की भावना को बलवती किया । फलस्वरूप "राजनीति" में नैतिक मूल्यों का ह्रास होने लगा । "किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद ही पुरानी पीढ़ी का आदर्श छिन्न भिन्न हो गया । जीवन में कोई अनुशासन नहीं रह गया और देश के व्यापक हित केस्थान पर स्वार्थ एवं स्वरति का प्रधान्य हो गया ।"[2] स्वतंत्र भारत में शिक्षा तथा विज्ञान के बढ़ते चरणों ने भी "यथार्थ वैयक्तिक चेतना" को फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया । व्यक्ति ने आदर्श व नैतिक मान्यताओं को तर्क के आधार पर परखना आरम्भ कर दिया । इसलिए उसके समक्ष पाप-पुण्य शील, पवित्रता, सदाचार तथा धार्मिक मूल्य बेमानी सिद्ध होने लगे ।

स्वाधीनता के समय हुए देश-विभाजन ने शरणार्थियों की समस्या को उत्पन्न किया । उनके रहने व भोजन की व्यवस्था ने समस्याओं को और अधिक पेचीदा बना दिया । इसके अतिरिक्त रोज़ी-रोटी की तलाश में ग्रामीण युवक, मजदूर व लघु किसान शहरों की

1- सुकवि (आक्टोबर) 1948 ई0 पूर्तिकार-गोपीचंद लाल गुप्त प्रेमानन्द ।
(उद्धृत) -हिन्दी का समस्यापूर्ति काव्य-डा0 दयाशंकर शुक्ल पृ0-373

2- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास-डा0लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-पृ0 19

भीड़ बनने लगे । इतनी अधिक भीड़ को देखकर धरती सकुचा गई । वह अपने आँगन में हर एक व्यक्ति को स्थान देने में असमर्थ हो गई । विवश हो पूरा परिवार एक कमरे में सिमट आया । वृद्ध माता-पिता वहीं हैं तो युवा पुत्रियाँ भी और विवाहित भाई भी । महानगरों की इस आवास समस्या ने शील,पवित्रता, शिष्टाचार,मर्यादा आदि के मूल्यों को बेनकाब कर दिया जिससे स्वत: ही "आदर्श चेतना" क्षीण होती चली गई - "नगरों की भीड़-भाड़ के साथ साथ तकनीकी पिछड़ेपन ने वर्तमान पीढ़ी के लिए संकट उपस्थित कर दिया है और यदि यही स्थिति बनी रही तो भावी पीढ़ियों के संकट का अनुमान किया जा सकता है । नगरों के भीतर उपनगर और उनके बाहर दुनियाँ भर की गन्दगी और सड़ाँध में लिपटा मानव जीवननारकीय दृश्य उपस्थित करता है । इन सब के कारण अनेक परम्परागत आचार-संहिताएं बदल रही हैं, नैतिक मानदण्ड बदल रहे हैं और लोगों की जीवनचर्या बदल रही है ।"1

अत: कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता पूर्व के भारतीय समाज में "आदर्श चेतना" की जो निर्मल धारा प्रवाहित थी,उसमें एक गतिरोध तो द्वितीय महायुद्ध के दौरान उत्पन्न हुआ किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् तो ऐसा वातावरण निर्मित होता चला गया जिसमें "आदर्श चेतना" की बेल मुरझाने लगी तथा इसके स्थान पर "यथार्थ चेतना" पुष्पित पल्लवित होने लगी । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि उस समय "आदर्श चेतना" लुप्त हो गई थी या लोगों का विश्वास उठ चुका था , किन्तु इतना अवश्य था कि तत्कालीन समाज में इन दोनों

1- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास- डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय-पृ0 18-19

में द्वंद्व की स्थिति पैदा हो गई थी । इस प्रक्रिया में व्यवस्थाओं, रीति-रिवाजों, मान्यताओं तथा जीवन मूल्यों की अग्नि परीक्षा हो रही थी । फिर भी व्यक्ति का आदर्श चेतना के प्रति झुकाव बना हुआ था ।

व्यावहारिक चेतना :-

जैसाकि प्रथम अध्याय में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि आदर्श एवं यथार्थ का क्रिया रूप ही "व्यावहारिक चेतना" है ,जो काल विशेष की बोधक होती है । यह व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताओं, आकांक्षाओं तथा इच्छित वस्तुओं की पूर्ति हेतु व्यक्ति को क्रियाशील करती है । इस प्रकार यह आर्थिक ,सामाजिक तथा राजनैतिक मूल्यों को विकसित करती रहती है । इसलिए मानवीय इच्छा, ज्ञान, कर्म, भोग, संस्कार आदि "व्यावहारिक चेतना" से संप्रेरित होते रहते हैं ।

उल्लेखनीय है कि उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के समाज-सुधारकों ने समाज में अमानवीय व्यवस्था का पतन कर सामाजिक रूढ़ियों, कुरीतियों को दूर किया, साथ साथ भारतीय संस्कृति और मूल्यों को परिष्कृत करके उन्हें "व्यावहारिक रूप" प्रदान किया,जिसके परिणामस्वरूप शनैः शनैः सुप्त जन जीवन में "व्यावहारिक चेतना" अपना सिर उठाने लगी ।

बीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण भारतीय जीवन एवं चिन्तन पर अंग्रेज़ी सभ्यता का अत्याधिक प्रभाव पड़ा । जिसके फलस्वरूप भारत का शिक्षित समाज अपनी प्राचीन मान्यताओं, विश्वासों व

परम्पराओं को विस्तृत दृष्टि से देखते हुए वैज्ञानिकता को कसौटी पर परखने लगा । यही कारण है कि पुराकाल से चले आ रहे जीवन-मूल्यों, धारणाओं, रीति-रिवाज़ों, सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं तथा उनके मानदंडों के प्रति नया दृष्टिकोण व नवीन चिन्तन पनपने लगे ।

स्वाधीन भारत में संवैधानिक अधिकारों आदि के कारण भी "व्यावहारिक चेतना" तीव्रगति से विकसित होने लगी । विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, तलाक आदि के कानूनों को समाज में सहज रूप से स्वीकारा जाने लगा था । मानवता व समानता के आधार पर जातिगत भेदभाव दूर होने लगे । यद्यपि यह जातिगत भेदभाव व्यक्ति मन में इतने गहरे पैठे हुए हैं कि इतनी जल्दी व सरलता से दूर नहीं हो सकते , परन्तु इसके प्रति युगानुरूप चिन्तन बदला है । वह बंधन जो कठोरता से जकड़े हुए थे शिथिल पड़ने लगे । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग की "व्यावहारिक चेतना" आदर्शोन्मुखी थी, उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ के स्थान पर समष्टिगत हित की भावना अधिक प्रबल थी और यह स्थिति स्वातंत्र्योपरांत लगभग एक दशक तक बनी रही ।

भौतिक चेतना :-

भारतीय व्यक्ति मन में "भौतिक चेतना" का विकास बढ़ते औद्योगीकरण तथा वैज्ञानिकता उन्मेष के साथ साथ हुआ । अंग्रेज़ों के संपर्क से भारतीय चिन्तन पर पाश्चात्य के "भौतिकवाद" का अत्यधिक प्रभाव पड़ा । वैज्ञानिक दृष्टि ने सामाजिक जीवन ,दर्शन,संस्कृति पर गहरा प्रभाव डालकर "भौतिक चेतना" को विकसित किया -"वास्तव

में आन्तरिक्ष विज्ञान ने मानव जाति को एक ऐसी नई दिशा प्रदान की है जिसके फलस्वरूप वह परम्परागत साहित्य, कला, धर्म, नीति, राजनीति, आचार-विचार, सौन्दर्य बोध, राष्ट्रीयता , अर्थ, काम, मोक्ष, आदि पर पुनर्विचार कर जीवन के नये आयाम देने के लिए बाध्य हो गया ।"[1]

भारत में औद्योगिक क्रान्ति अंग्रेज़ों के आगमन के साथ आई । अंग्रेज़ों ने देश में कल-कारखाने तो स्थापित किये, किन्तु भारतीय लघु उद्योग धंधों को नष्ट करने में कोई कसर बाकी न रखी । परिणामत: ग्रामीण कारीगर व लघु काश्तकार बेरोज़गार होकर शहर जाने को विवश हुये, जहाँ वह पाश्चात्य सभ्यता के पोषक शहरों में प्रभावित होकर पुन: अपने गाँव लौटने पर वहाँ भी इस सभ्यता का प्रचार-प्रसार करते ।"[2] देश के "नगर" उद्योग धंधों का केन्द्र बनने से और अतिशय जनसंख्या बढ़ने से "महानगर" की संज्ञा पाने लगे । रोजगार तलाशते व्यक्ति गाँवों को खाली कर शहरों में भीड़ बनने लगे । आर्थिक असंतुलन से "वर्ग असमानता " की खाई चौड़ी होती गई । मुट्ठीभर उच्च वर्ग के लोग अंग्रेजों के सम्पर्क में आने से पहले ही भौतिकवादी हो गये थे, अब मध्यम वर्ग भी बाहरी दिखावे व झूठी शान के लिए इस दौड़ में सम्मिलित हो गया । वह सीमित आय में असीमित इच्छाओं की पूर्ति न कर सकने पर, अधिक धन प्राप्ति हेतु अनुचित धंधे, रिश्वत खोरी जैसे अनैतिक कार्य करने लगा । वह पैसे कमाने की मशीन बनता चला गया । तनाव, कुंठा, ईर्ष्या तथा अलगाव आदि की दुर्बल

1- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास -डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0-27

2- हिस्ट्री आफ इण्डिया अंडर ब्रिटिश रूल - आर•सी•दत्ता -पृ0 9

प्रवृत्तियाँ उसके मन-मस्तिष्क पर हावी होती चली गईं । आधुनिक अर्थ प्रधान युग में "धर्म" व "मोक्ष" स्वंय को उपेक्षित समझ तिरोहित हो रहे हैं । "अर्थ" के आधार पर पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्ध बन और बिगड़ रहे हैं । परिणामत: सामाजिक व पारिवारिक जीवन में टकराव और विघटन को स्थिति उत्पन्न हो गई तथा संयम,परोपकार त्याग जैसे नैतिक मूल्य "भौतिक चेतना" की अदालत में मुलज़िम बने खड़े हो गये हैं । इन विषम स्थितियों के चक्रव्यूह में फंसा व्यक्ति अपने को एकाकी और निरीह अनुभव करने लगा है ।

निष्कर्ष :-

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्नीसवीं व बीसवीं शताब्दी के समाज सुधारकों ने सामाजिक,सांस्कृतिक एवं धार्मिक उत्थान के लिए जो ज्ञान ज्योति प्रज्ज्वलित की थी,वह स्वतंत्र भारत के समाज को लगभग एक दशक तक आलोकित करती रही,यद्यपि उसकी ज्योति देश काल के प्रतिकूल झोंकों के कारण निरन्तर क्षीण होती जा रही थी । लेकिन फिर भी समाज में कर्तव्यनिष्ठा,प्रेम,परोपकार,देश प्रेम ,त्याग, सत्य आदि नैतिक मूल्योंके प्रति आस्था बनी हुई थी । नारी के प्रति भी आदर भावना परिलक्षित होती थी । पं0 नेहरू , गांधी व पटेल के सिद्धान्तों पर अग्रसर होती राजनीति भी आदर्शयुक्त थी । राजनेताओं में देश कल्याण व उत्थान की भावना निहित थी । किन्तु परिस्थितिवश "भौतिक चेतना" और "यथार्थ चेतना" के प्रति आग्रह बढ़ता जा रहा था । सामाजिक व पारिवारिक संबंधों में अदृश्य सी लकीर खिंचती जा रही थी । लेकिन बाह्य रूप परस्पर प्रेम व ,भाइचारे का वातावरण बना हुआ था । इस प्रकार समाज में "वैयक्तिक चेतना" आदर्शयुक्त थी और समष्टिगत रूप धारण किये हुए

थी । किन्तु शनैः शनैः समाज में विषम स्थितियाँ उत्पन्न होती गईं । सन् 1960 के बाद हुए चीन-भारत और पाक-भारत के युद्धों के परिणामस्वरूप विकट समस्याएं, देश के शासन पर हावी होती भ्रष्ट राजनीति, आर्थिक विषमता, मंहगाई व अव्यवस्थित शिक्षा प्रणाली तथा बढ़ती जनसंख्या आदि के कारण "आदर्श चेतना" तथा ~~बढ़ती जनसंख्या आदि के~~ आदर्श से सम्पृक्त §व्यावहारिक चेतना" निरन्तर ह्रासोन्मुख होती गई और साठोत्तर काल में अनुकूल वातावरण से सिंचित होकर "यथार्थ चेतना" तथा "भौतिक चेतना" की बेल पुष्पित पल्लवित होने लगी ।

<u>साठोत्तर युगीन चेतना</u> §सन् 1960 से सन् 1980 तक§

पूर्व विवेचन में लक्ष्य किया जा चुका है कि आलोच्य काल से दो दशक पूर्व का काल अधिकांशतः आदर्श प्रधान था । तत्कालीन राजनीति सामाजिक, व्यवस्था व राष्ट्रीय गतिविधियाँ जनहित के लिए थीं । पारिवारिक व सामाजिक जीवन सौहार्दपूर्ण बना हुआ था । किन्तु अनेक अन्तर्बाह्य कारणों से देश की परिस्थितियाँ बदलने लगी, जिसका प्रभाव जन साधारण पर विशेष रूप से पड़ा और व्यक्ति का चिन्तन, दृष्टिकोण व व्यवहार बदलने लगा । इस समस्त प्रक्रिया से "वैयक्तिक चेतना" भी प्रभावित हुये बिना न रह सकी । परिवर्तित होती "वैयक्तिक चेतना" का कौन सा पक्ष उभर कर उग्र होता गया इसका विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत करेंगे -

<u>आदर्श चेतना</u> :-

उपर्युक्त विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सामाजिक व सांस्कृतिक पुनरूत्थान के लिए जो आन्दोलन हुए थे, वे आदर्श सम्पृक्त

"व्यावहारिक चेतना" से प्रभावित थे, जिनका प्रभाव साठोत्तर समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान अवश्य था । किन्तु आलोच्यकालीन समाज में आदर्श व नैतिकता की वह स्थिति नहीं रही जो सन् 1960 से पूर्व थी । राजा राम मोहन राय, महर्षि दयानन्द तथा महात्मा गांधी ने नारी सम्मान का जो आदर्श समाज के सम्मुख रखा था, वह भावभाव धीरे धीरे तिरोहित होता गया ।

गांधी जी ने राजनीति में जिस "नीति" पर बल दिया था वह सन् 1962 तथा 1965 और 1970 के युद्धों में छिन्न-भिन्न हो गई । इन युद्धों से विश्वास, मैत्री, भाई-चारे, विश्व बंधुत्व जैसे राजनैतिक मूल्यों को आघात लगा और राजनीति यथार्थ के धरातल पर उतर आई, जिसने देश के आर्थिक व सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया। जो राशि योजनाओं के अन्तर्गत उद्योग धन्धों में खर्च करनी थी, उसे सुरक्षा पर किया गया । परिणामत: देश में दिनोंदिनों मंहगाई, व बेरोज़गारी बढ़ने लगी । आर्थिक संकट के इस वातावरण में भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, आपा-धापी, तनाव तथा लूटमार का साम्राज्य स्थापित हो गया । इसके साथ साथ देश में जमा खोरी व काला बाजारी जैसी दुष्प्रवृत्तियां बलवती होने लगी । मध्यम वर्ग झूठे "स्टैंडर्ड" को बनाये रखने के लिए अनैतिक कार्यों द्वारा धन कमाने लगा । वह स्वार्थ लोलुपता, पद लालच व अवसर वादिता और चाटुकारितापर आधारित नौकरशाही को ही अपना ध्येय समझ बैठा है ।

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि आलोच्य कालीन समाज में न केवल राजनीति अपितु सामाजिक व पारिवारिक जीवन भी आदर्श विमुख होता गया और "यथार्थ चेतना" की ओर क्रमश: अग्रसर होने लगा ।

यथार्थ चेतना :-

पूर्ववर्ती पृष्ठों में सद्यः स्वतंत्र भारत में विकसित होती "यथार्थ चेतना" की स्थिति को उद्घाटित किया गया है । वहाँ इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि स्वाधीन भारत में वोटप्रणाली, संवैधानिक अधिकारों ने व्यक्ति में "व्यावहारिक चेतना" को तीव्रतर तो किया ही साथ ही "यथार्थ चेतना" को भी प्रभावित किया । साठोत्तर समाज में नैतिकता विहीन राजनीति समाज पर हावी होती गई । राजनेताओं का मुख्य उद्देश्य केवल सत्ता प्राप्ति व स्वार्थ पूर्ति रह गया । बड़े बड़ेगअपराध राजनीति में प्रश्रय पाने लगे । राजनीति के इस दूषित वातावरण से सामाजिक व पारिवारिक जीवन भी अछूता न रह सका । जातिवाद और भाषावाद वोट प्राप्ति के "मोहरे" बन गये जिससे समाज में भ्रष्टाचार, स्वार्थान्धता व असंतोष व्याप्त हो गया । "इससे देश कलह, फूट ,प्रान्तीयता, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, भाई-भतीजावाद, साम्प्रदायिकता आदि दुर्बल प्रवृत्तियों का शिकार होने लगा ।"[1] नेतागण आदर्श व नैतिकता त्याग कर रूपयों की थैली में बिक रहे हैं । उनमें न तो नैतिक बल ही रहा है और न ही चारित्रिक दृढ़ता ही रही । आज वे अवसर वादिता, सत्ता लोलुपता, धन प्राप्ति आदि में प्रवृत्त हो रहे हैं ।

आलोच्य कालीन समाज में वैज्ञानिकता के बढ़ते कदमों ने व्यक्ति के चिन्तन को अत्याधिक प्रभावित किया है । पाश्चात्य सभ्यता, औद्योगीकरण तथा आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने व्यक्ति की "यथार्थ चेतना" को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । शिक्षित व्यक्ति

1- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य -डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-पृ0-46

परम्परागत जीवन-मूल्यों, नैतिकता, आदर्शों आदि को नकारात्मक दृष्टिकोण से परख रहा है । इस यथार्थवादी चेतना का चित्रण समकालीन साहित्यकार बड़ी प्रतिबद्धता से कर रहा है । चेतनशील मानव होने के नाते -"उसने यथार्थ एवं स्थूल समस्याओं को स्वीकार करने में संकोच नहीं किया । उसने यह अनुभव किया है कि जो कुछ कविता के माध्यम से कहे वह पाठक की चेतना में समाया रहे । आज का साहित्यकार यथार्थ रूप से अपने भोगे हुए यथार्थ का चित्रण करता है ।"[1]

"यथार्थ चेतना" से प्रभावित नारी अपनी अस्मिता को पहचानने में संलग्न है । उन्नीसवीं शताब्दी में नारी सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप नारी ने जो स्वतंत्रता और समानता का नारा सीखा था, आज वह उसका गलत अर्थ लगा कर स्वतंत्रता को स्वछंदता, शिक्षा को अंधानुकरण तथा आर्थिक आत्म-निर्भरता को अपना "अहम्" मान बैठी है । नारी स्वच्छंदता में विश्वास रखने वाली नारी पवित्रता, नैतिकता, मातृत्व, सतीत्व जैसी मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लगा रही है । शिक्षित हो, वह राजनीति के दाव-पेंचों का खुलकर प्रयोग कर रहा है, जिससे समाज विशेषत: परिवार में विघटनकारी स्थिति उपस्थिति हो गयी है । पति-पत्नी के बीच तनाव-मन मुटाव, कुंठा, अलगाव की भावना पैठती जा रही है । -"सामयिक नारी अनेक आवर्जनाओं से मुक्त अपने ढंग से अपना जीवन जीने पर बल दे रही है । वह अपना व्यक्तित्व स्वाधीन रखना चाहती है ।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि गत दो दशकों के दौरान

1- प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना-डा0 सिम्मी गुप्त -पृ0-58

2- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास- डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0-35

भारतीय समाज में यथार्थवादी चेतना तीव्र हो रही है । समकालीन व्यक्ति विशेषत: युवा पीढ़ी परम्पराओं रीति-रिवाजों की लक्ष्मण रेखा लांघ रही है । जबकि पुरानी पीढ़ी आदर्श व नैतिकता का स्वांग रचकर द्वंद्वात्मक स्थिति में फंसी हुई है । इसलिए वह दिशाहीन कुंठित, भटकती युवा पीढ़ी का उचित मार्ग-दर्शन नहीं कर पा रही है और आज का साहित्यकार भी मूल्यहीनता, कुंठा, मानवीय कमजोरी व स्वच्छंद यौन वृत्ति का खुलकर चित्रण कर रहा है । वह अपने चारों ओर के वातावरण को खोखली और विकृत "यथार्थ चेतना" से सम्पृक्त कर, चित्रण कर रहा है । इसके साथ साथ वह अपने हुए यथार्थ में विश्वास करता है । इसलिए वह निस्संकोच मानवोचित अवगुणों, दमित कुंठाओं आदि को सहर्ष स्वीकार कर रहा है ।

व्यावहारिक चेतना :-

जैसाकि पूर्ववर्ती पृष्ठों में स्वतंत्रता युग की परिस्थितियों से गुजरती "वैयक्तिक चेतना" को स्पष्ट करते हुए "व्यावहारिक चेतना" को स्थिति को उजागर किया गया है । वहाँ इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला गया है कि उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी में हुए आन्दोलनों ने जिस परिमार्जित युगानुरूप "व्यावहारिक चेतना" के स्रोतों को प्रस्फुटित किया था, जिसे स्वतंत्र भारत की परिस्थितियों यथा- संवैधानिक अधिकारों, शिक्षा के प्रचार-प्रसार, यातायात, औद्योगीकरण तथा राजनीति आदि ने और अधिक तीव्रतर किया । यहाँ यह उल्लेख कर देना समीचीन होगा कि उस समय जो "व्यावहारिक चेतना" की धारा प्रवाहित हो रही थी वह आदर्श युक्त थी किन्तु साठोत्तर युग में कई अवरोध उपस्थित हुये जिससे उस धारा का रुख बदल गया ।

गत दो दशकों में शिक्षा, पाश्चात्य की उन्मुक्त सभ्यता तथा बौद्धिकता के कारण यह चेतना उध्र्वमुखी हो उठी - "आधुनिक युग अपने साथ ऐसा चिन्तन लेकर आया, जिसने मानव जीवन को मध्यकालीन रूढ़ियों,अंध-विश्वासों और तज्जन्य विकृतियों से मुक्त कर व्यक्ति स्वातंत्र्य और समाज निर्माण को एक नये धरातल पर प्रतिष्ठित किया ।"[1]

राजनीति तथा संवैधानिक अधिकारों ने शहरों के साथ साथ गांवों में "व्यावहारिक चेतना" को विकसित किया है । सरदार पटेल ने नवाबों, महाराजाओं तथा जमींदारों के शोषण से जनता को मुक्त कर उसमें आत्म-सम्मान की भावना को बढ़ावा दिया । कालान्तर में जो यूनियन संगठन, मजदूर संघ आदि संस्थाओं का संरक्षण पाकर बढ़ती ही गई । कुछ समय पहले तक मजदूर वर्ग अपने मालिक द्वारा किये गये अत्याचारों को भाग्य का खेल मानकर चुपचाप सह लेता था, किन्तु आज वह उन अत्याचारों के प्रति आक्रोश व्यक्त कर रहा है । साठोत्तर युग में गांव गांव पहुंच रहे शिक्षा के आलोक ने भी परम्परागत रूढ़िगत विचारों को नष्ट कर समानता वादी तथा मानवतावादी दृष्टिकोण विकसित किये हैं ।इसके अतिरिक्त शहरीकरण ने जहां एक ओर आवास समस्या के कारण ऊंच-नीच के भेद को समाप्त किया वहीं दूसरी ओर होटलों में खाना खाने तथा सामूहिक नल पर पानी पीने जैसी व्यवस्था ने भी अस्पर्श्यता और जातिगत भेदभाव दूर करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । औद्योगिक क्रान्ति ने परस्पर एकता तथा भाइचारे की भावना को विकसित करते हुए युगानुरूप "व्यावहारिक चेतना" को बल दिया है ।

आलोच्य कालीन युग में "नारी" ने सर्वाधिक उन्नति की है ।

1-आज का हिन्दी साहित्य -संवेदना और दृष्टि - डा0 रामदरश मिश्र, पृ0-26

पहले वह जिन बैसाखियों का सहारा लेकर चली थी,आज उसे उनकी आवश्यकता अनुभव नहीं कर रही है । वह अपने अधिकारों व अस्तित्व के लिए स्वयं संघर्षरत है, किन्तु आधुनिक परिस्थितिवश समकालीन "व्यावहारिक चेतना" में जो "यथार्थ" का मिश्रण हो रहा है उसके परिणामस्वरूप नारी भी सामाजिक व नैतिक मान्यताओं को अवगुंठन की भाँति उतार दिया है । वैज्ञानिक तर्क के आधार पर शारीरिक पवित्रता, शील, पातिव्रत्य आदि मूल्यों पर प्रश्न लगा दिये हैं । नारी की इस "व्यावहारवादी चेतना" ने पारिवारिक जीवन को विघटनात्मक बिन्दुओं पर ला खड़ा किया है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि आलोच्य कालीन "व्यावहारिक चेतना" आदर्श परक न होकर यथार्थ व भौतिक-वादी चेना से सम्पृक्त हो रही है ,जिसने हमारे मूल्यों, आदर्शों व मान्यताओं को अत्यधिक प्रभावित किया है । आधुनिक व्यक्ति भौतिक सुखों के आकर्षण में खिंचा हुआ "भौतिक चेतना" की ओर अग्रसर होता जा रहा है ।

भौतिक चेतना :-

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वतंत्रता पूर्व समाज में "आदर्श चेतना" पर अधिक बल दिया जाता था । किन्तु आज "भौतिक चेतना" के प्रति व्यक्ति का झुकाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है । "भौतिक चेतना" शारीरिक सुख-साधनों से सम्बन्धित होती है । आधु-निक युग में वैज्ञानिकता के बढ़ते चरणों ने अनेक विलासिता व एशोआराम की वस्तुएं संसार को दी हैं और आधुनिक मानव उनका गुलाम बनकर दयनीय स्थिति को पहुँच रहा है । स्वतंत्रता के कुछ समय पश्चात् तक समाज में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था बनी हुई थी लेकिन गत दो दशकों में भौतिकता के प्रति बढ़ते आग्रह से व्यक्ति इनसे विमुख होता जा रहा है ।

साठोत्तर युग में वैज्ञानिकता, औद्योगिक विकास तथा पाश्चात्य प्रभाव के उतरोत्तर विकास ने "भौतिक चेतना" को बल दिया । मशीनों ने व्यक्ति को पराजित कर उसे अपना गुलाम बना लिया है,उसे पंगु बना दिया है,साथ ही साथ आलसी भी । अब वह बिना परिश्रम के और अल्प समय में ही सभी सुख-सुविधाओं की वस्तुएं प्राप्त करना चाहता है । मध्यम वर्ग तो इस होड़ में अंधानुकरण कर रहा है । वह धन प्राप्ति के लिए "शॉर्टकट" का रास्ता अपना कर रिश्वतखोरी, काला-बाजारी, जमाखोरी जैसे अनैतिक व देशद्रोही कार्य करने से भी नहीं हिचकिचाता ।

देश की आर्थिक प्रणाली ने भी "भौतिक चेतना" को उकसाया है । देश के सर्वांगीण विकास हेतु पंचवर्षीय योजनाएं लागू की गई थीं किन्तु अनेक अन्तर्बाह्य कारणों से आशातीत सफलता प्राप्त न कर सकी । एक तो युद्धों ने देश की आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित किया,दूसरा नैतिक चरित्र की कमी व भ्रष्टाचार के कारण कई योजनाएं केवल कागज़ी बनकर रह गई, जिनसे देश के करोड़ों व्यक्तियों का हित होना था,वे केवल कुछ प्रतिशत व्यक्तियों की उदर पूर्ति का साधन बन कर रह गयीं ।"--------उन्नीस सौ सत्तावन में पांच कुएं खोदे गये कागज़ पर ढाई हजार फी कुंआ, सन् साठ में तीन तलाब पाटे गये, जबकि तालाब थे ही नहीं । सन् उनहत्तर में चकबन्दी आयी,फी चक पांचसौ रूपये । सन् पचहत्तर में नसबन्दी आयी -------"[1] ऐसा नहीं था कि इन योजनाओं से देश को लाभ न हुआ हो । यद्यपि इन योजनाओं के माध्यम से शहरों के साथ साथ ग्रामों व कस्बों में विद्यालय,अस्पताल,

---

1- राम की लड़ाई - डा0 लक्ष्मी नारायण लाल, पृ0 - 20-21

बैंक आदि स्थापित किये गये । देश में बड़े बड़े उद्योग धंधे विकसित हुए । यातायात सम्बन्धी साधनों में वृद्धि हुई और विज्ञान में तो भारत ने अभूतपूर्व उन्नति की है । परन्तु जैसाकि कहा जा चुका है प्रशासनिक भ्रष्टाचार, नैतिक दृढ़ता का अभाव तथा जनसंख्या में तेज़ी से होती वृद्धि से ये योजनायें अपने निर्धारित लक्ष्य तक न पहुंच सकी । शिक्षित मध्यम वर्ग असन्तोष कादामन छोड़ता गया । वह उच्च वर्ग के समकक्ष आने के सपने देखने लगा । धनी वर्ग के पास धनादि ~~का~~ किसी प्रकार का अभाव नहीं होता । इसलिए उसका क्या ~~सन्तुष्ट~~ सन्तोष और क्या असन्तोष, फिर भी धनी वर्ग के असन्तोष ने ,~~अर्थ~~ मजदूरों की हालतको और अधिक दयनीय बनाते हुए "अर्थ असंतुलन को ~~और~~ बढ़ावा दिया, परन्तु मध्यम वर्गीय असन्तोष ~~ने~~ अनैतिक तत्वों को अपनाकर भारतीय संस्कृति को उसके आदर्श से च्युत कर रहा हैं, किन्तु साथ साथ भारतीय मूल्यों व आदर्शों का बखान करते भी नहीं थकतो। इस प्रकार दोहरी जिन्दगी जी रहा मध्यम वर्ग सीमित आय में असीमित इच्छाओं की पूर्ति में संलग्न है और जब उसकी आकांक्षाएं पूरी नहीं होती है तो वह तनाव, कुंठा, अलगाव और द्वेष की भावना से ग्रस्त हो जाता है । भग्नस्वपना युवा पीढ़ी नशे की आदी होकर विध्वंसात्मक कार्यों की ओर प्रवृत्त हो रही है । पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति से प्रभावित यह पीढ़ी स्वच्छंद ,यौन वृति तथा "डिस्को संस्कृति" को सही मार्ग मान बैठी है ।

इस प्रकार औद्योगीकरण ,वैज्ञानिकता तथा अर्थ प्रधान सभ्यता ने समकालीन व्यक्ति को "भौतिकवादी" बना दिया है । इस भौतिकता की चकाचौंध में वह अपने नैतिक मूल्यों,सुदृढ़ परम्पराओं व आदर्शों को भुला बैठा है । इस मशीनी युग ने उसकी कोमल भावनाओं को कुचल कर उसे भी मशीन बना दिया है । आज व्यक्ति के सारे

सम्बन्ध "प्रेम" की आधार भूमि को त्याग कर "अर्थ" के स्तम्भों पर स्थापित हो रहे हैं।

निष्कर्ष :-

सन् 1960 से पूर्व एवं सन् 1960 के पश्चात् के तुलनात्मक विवेचन से इन निष्कर्षात्मक बिन्दुओं पर पहुंचा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर समाज नये मूल्यों, नये चिन्तन एवं नये दृष्टिकोणों से युक्त था। संवैधानिक ,राजनैतिक ,सामाजिक आदि कारणों से समाज में छूआ-छूत ,वर्ग भेद, आदि कुरीतियां दूर होती जा रही थी तथा नारी वर्ग और निम्नवर्ग में नई जागृति विकसित होनी लगी। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर समाज में जहां एक ओर परम्परागत कुरीतियों,कुप्रथाओं तथा जीर्ण शीर्ण परम्पराओं के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण विकसित होने से देश व समाज नई चेतना व नवीन आलोक के पथ पर अग्रसर हो रहा था, वहीं दूसरी ओर अति बौद्धिकता से उत्पन्न अहम् भाव, भौतिकता के प्रति तीव्र आग्रह तथा पाश्चात्य अंधानुकरणीय प्रवृत्ति से धूमिल होते भारतीय आदर्श व नैतिकता जैसी ह्रासोन्मुख स्थितियां भी परिलक्षित हो रही थीं। स्वतंत्रता के पश्चात् भी भारतीय समाज में स्थापित ईमानदारी, सेवाभाव ,त्याग, परोपकार आदि के मूल्य साठोत्तर युग में यथार्थवादी व भौतिकवादी "वैयक्तिक चेतना" की लपटों में झुलसने लगे। व्यक्ति के आत्म सम्मान का स्थान निजी स्वार्थ ने ले लिया। इस प्रकार व्यक्ति आत्म केन्द्रित होने लगा, और सन्1960 से पूर्व की समाज सापेक्ष "वैयक्तिक चेतना "व्यक्तिवादी चेतना" की ओर अग्रसर होती गयी। स्वअस्तित्व व स्वाभिमान अति बौद्धिकता से सम्पृक्त होते गये,जिसके परिणामस्वरूप स्त्री-पुरूष के विचारों का

टकराव, परस्पर मनमुटाव एवं वैचारिक संघर्ष की स्थिति उपस्थित हो गई ।

साठोत्तर समाज में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में नैतिक पतन होने लगा । राजनीति में पद लोलुपता, सत्ता कामना व प्रशासनिक भ्रष्टाचार बढ़ने लगा तो सामाजिक क्षेत्र में पारिवारिक व सामाजिक मूल्य, प्रेम, त्याग, सद्भाव परोपकार जैसे नैतिक मूल्य धूमिल होने लगे । "धर्म" पर "अर्थ" हावी होता गया । आधुनिक युग में आर्थिक विषमता ने अमीर-गरीब के बीच की खाई को और अधिक चौड़ा कर दिया है और समाज में "वर्ग" के संघर्ष को बढ़ावा दिया ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में "आदर्श चेतना" तथा आदर्श सम्पृक्त "व्यावहारिक चेतना" निरन्तर ह्रासात्मक बिन्दुओं की ओर अग्रसर हो रही है । इसके स्थान पर "भौतिक चेतना" तथा "यथार्थ चेतना" उत्तरोत्तर विकासमान हो रही है । आधुनिक शिक्षा, पाश्चात्य अंधानुकरण, औद्योगीकरण, शहरीकरण तथा यातायात आदि तथ्यों ने वैयक्तिक चेतना को इस स्थिति में पहुंचाने में विशेष योगदान दिया है ।

अत: कहा जा सकता है कि इन दो दशकों में "यथार्थ चेतना" व "भौतिक चेतना" इतनी प्रबल होती जा रही है कि जिस का प्रभाव स्पष्टत: दाम्पत्य जीवन तथा सामाजिक मूल्यों पर पड़ रहा है । समकालीन युग में "व्यावहारिक चेतना" भी यथार्थोन्मुखी है । यद्यपि मध्यम वर्ग उच्च वर्ग के समान भौतिकता के प्रति आकर्षित अवश्य हो रहा है किन्तु अभी तक उसका अपने प्राचीन मूल्यों, संस्कारों, आदर्शों के प्रति मोह भी बना हुआ है । वह न तो इन मूल्यों को

त्यागने की स्थिति में है और न ही अपनाने की । इस प्रकार दोहरी जिन्दगी जीना उसकी नियति बन गई है । आलोच्य कालीन नाटकों में आधुनिक व्यक्ति की इस विवशता का चित्रण अत्यंत मार्मिकता व सजीवता से किया है ।

2-"वैयक्तिकता-चेतना" को प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियाँ :-

पूर्ववर्ती पृष्ठों में लक्ष्य किया जा चुका है कि व्यक्ति के जीवन में परम्पराओं, धारणाओं, आदर्शों के प्रति द्विधात्मक स्थिति बनी हुई है । आधुनिक व्यक्ति सामाजिक, धार्मिक, नैतिक व आध्यात्मिक मान्यताओं को विज्ञान व ज्ञान की कसौटी पर परख कर जीवन में उतार रहा है ,किन्तु यह प्रक्रिया तीव्र नहीं है , क्योंकि भारत जैसे देश में विज्ञान व मशीनों का इतना अधिक विकास नहीं हुआ है जितना कि पाश्चात्य देशों में । परन्तु जैसे जैसे देश में शिक्षा, वैज्ञानिकता, औद्योगिकता तथा राजनीति का विकास होता जा रहा है, वैसे-वैसे "वैयक्तिक-चेतना" का विकास भी तीव्र गति से होता जा रहा है ।

यह उल्लेखनीय है कि स्वातंत्र्योत्तर (सन् 1960 से पूर्व) युग में "वैयक्तिक-चेतना" को आकर्षित करने वाली -राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों तथा शिक्षा, विज्ञान और पाश्चात्य प्रभाव इत्यादि प्रवृत्तियों को विकसित होने का अनुकूल वातावरण प्राप्त हो रहा था, परन्तु कुछ एक प्रवृत्तियों को छोड़ कर उनका विशेष प्रभाव नहीं जम पाया था, जितना कि साठोत्तर समाज में । गत दो दशकों में उपर्युक्त प्रवृत्तियों ने "वैयक्तिक-चेतना"

प्रभावित कर सदियों से चले आ रहे हमारे मूल्यों, धार्मिक विचारों, रीति-रिवाज़ों, मान्यताओं को व्यापक रूप से प्रभावित किया है । उनकी आस्था के प्रति प्रश्न चिन्ह लगा दिया है । यहाँ यह विवेचन कर लेना समीचीन होगा कि आलोच्य कालीन समाज में किन-किन प्रवृत्तियों ने "वैयक्तिक-चेतना" को मुख्य रूप से प्रभावित किया है --

§क§ पाश्चात्य प्रभाव :-

जैसा कि "वैयक्तिक-चेतना" के उद्भाव एवं बिकास में इस तथ्य को स्पष्ट किया जा चुका है कि "वैयक्तिक-चेतना" का अस्तित्व प्राचीन काल से ही भारत में विद्यमान था, और यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि यह "वैयक्तिक-चेतना" सामूहिक रूप से विकसित हो रही थी, जो अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आने से "व्यक्ति प्रधान" होने लगी । अंग्रेज़ों ने अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार अपनी स्वार्थ सिद्ध हेतु किया था, किन्तु इस शिक्षा के माध्यम से भारतीयों को नई दृष्टि नया आलोक मिला । उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी में हुये सांस्कृतिक व सामाजिक आन्दोलनों के मूल में पाश्चात्य प्रभाव ही था, और परवर्तीकाल में इस "वैयक्तिक चेतना", का जो आधुनिक चिन्तन से सम्पृक्त थी, उत्तरोत्तर विकास होता गया । जिसमें पाश्चात्य चिन्तन व सभ्यता का प्रभाव स्पष्टत: दृष्टिगोचर हो रहा है । परिणामत: "आदर्श चेतना" में ह्रासात्मक स्थिति उत्पन्न हो गयी "यथार्थ-चेतना" व भौतिक-चेतना" का विकास पर्याप्त रूप से होने लगा और इस "भौतिकवादी यथार्थ चेतना के प्रगतिशील होने से "अर्थ" काम व अहम् वादी अभिवृत्तियों को बल मिला ।

§ख§ आधुनिक शिक्षा :-

आधुनिक काल में पाश्चात्य प्रभाव ने जहाँ "वैयक्तिक चेतना"

को प्रभावित किया, वहीं आधुनिक शिक्षा के रंग से वह अछूती न रह सकी । स्वतंत्र भारत में "धर्म" निरपेक्षता" के आधार पर युगानुरूप नैतिक तथा आदर्श मूल्यों से युक्त और सर्वधर्म समन्वय पर आधारित शिक्षा का विकास हो रहा है । किन्तु परिस्थितियां ऐसी उत्पन्न हो गयी हैं कि विद्यार्थी नौकरी के लिए अपेक्षित विषयों का ही चयन करता है । लेकिन साथ साथ इस आधुनिक शिक्षा का दूसरा पक्ष भी है , जिससे प्रभावित हो युवा वर्ग में नया व्यक्तित्व उभर कर आया है -"स्वतंत्र भारत में ऐसी शिक्षा का जन्म होना चाहिये, जो मनुष्य के व्यक्तित्व को अपनी समग्रता एवं संपूर्णता से उभार सके , जो उसमें विचार एवं कार्य स्वतंत्रता को उत्पन्न करे, जिससे मानसिक दासत्व न हो और जो हर बात को बुद्धि की कसौटी पर कसे ।"[1] यह तथ्य स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में विकसित होती जा रही शिक्षा में विद्यमान हैं और इन्हीं कारणों से जहां पाप-पुण्य, मान्यताओं व धारणाओं के प्रति अंधविश्वासों में जागरूकता आई है, वहीं दूसरी ओर स्वअस्तित्व बोध के कारण स्त्री-पुरुष में समानता, अधिकार बोध, अहम् आदि की भावना तीव्र होती जा रही है । यह प्रक्रिया अब केवल शहरों तक ही सीमित नहीं रह गयी है अपितु पिछले दो दशकों के दौरान गांवों में भी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ साथ व्यापक रूप धारण करती जा रहीहै, यद्यपि गांवों में अभी तक नारी शिक्षा व उच्च शिक्षा का अभाव बना हुआ है, लेकिन शहरों में नारी शिक्षित होकर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बन पुरूष के साथ कंधे से कंधा मिला कर देश की उन्नति में अपना योगदान दे रही है ।

1- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास- डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय -पृ0-34

जैसा कि संकेत दिया जा चुका है कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली वैज्ञानिकता पर आधारित तर्क पूर्ण दृष्टिकोण लिये हुए है । उसमें नैतिकता तथा कोरे आदर्शों के प्रति भावुकता पूर्ण आग्रह परिलक्षित नहीं होता । इस प्रकार आधुनिक शिक्षा व्यक्ति को बौद्धिकता की ओर प्रेरित कर रही है, जिसके आधार पर वह प्राचीन मूल्यों, रूढ़ियों व परम्पराओं का उपयोगिता के आधार पर पुनर्मूल्यांकन कर रहा है । यही कारण है कि समकालीन व्यक्ति के आदर्श व कल्पना के सब्जबाग नष्ट होते जा रहे हैं और वह "व्यावहारिकता तथा "यथार्थ" की कठोर भूमि पर उतर रहा है । उसकी जीवन दृष्टि व्यावहारिक व यथार्थ परक हुई है, भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता बढ़ी।[1] शिक्षा का सुदृढ़ सम्बल पाकर ही आधुनिक नारी अभूतपूर्व आत्मसम्मान व स्व-अस्तित्व बोध के पथ पर अग्रसर होती जा रही है । सामाजिक व राष्ट्रीय कार्यों में अपना महत्वपूर्ण सहयोग दे रही है । शिक्षा प्राप्त नारी आत्मनिर्भर बन कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व व विचार रखने लगी है । अब वह न केवल परिवार की चार दीवारी में सीमित रह गई है अपितु समाज में आगे बढ़कर पुरूष के साथ प्रतिस्पर्धा कर रही है ।

समकालीन भारतीय समाज में शिक्षा की ऐसी स्वच्छ, निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है जिसमें समाज का प्रत्येक वर्ग अपनी ज्ञान पिपासा को तो शान्त कर ही रहा है साथ साथ मन-मस्तिष्क के मैल को भी धो रहा है । यह सरिता अपने साथ छूआछूत, ऊँच-नीच के भेद के कचरे तथा अंध विश्वासों की सडांध - जो सदियों से समाज में व्याप्त थी, उसे बहाकर ले जा रही है । क्या मजदूर वर्ग, क्या निम्न वर्ग, क्या अछूत वर्ग और क्या युवा वर्ग सब में अभूतपूर्व क्रान्ति

1- साहित्य की नई दिशाएं - डा0 श्रीधर मिश्र - पृ0 103

अपरिमित आत्मविश्वास तथा साहस और नवीन चेतना दृष्टिगत हो रही है,जिसके आधार पर ये सभी समानता का अधिकार,जीने का अधिकार एवं अधिकार प्राप्ति का अधिकार माँग रहे हैं - ये सभी परिलक्षित होती प्रवृत्तियाँ शिक्षा की ही देन है । शिक्षा के इस पक्ष ने "व्यावहारिक चेतना" को बढ़ावा दिया है, जबकि एक दूसरा पक्ष भी है जिसने समाज में "भौतिक चेतना" को बढ़ावा दिया है । शिक्षा के गलत उपयोग ने समाज में उच्छृंखलता को बढ़ावा दिया है उसकी अति बौद्धिकता ने आदर ,सम्मान, पवित्रता, शील, जैसे नैतिक मूल्यों को नकार दिया है । इस प्रकार शिक्षा के इस दूसरे पहलू ने युवा पीढ़ी को दिक्भ्रमित बना दिया है । सही मार्गदर्शन के अभाव में वह भटक रही है अपनी शक्ति का ह्रास कर रही है ।

इस प्रकार आधुनिक शिक्षा ने "वैयक्तिक चेतना" को प्रभावित कर युगानुरूप जीवन-दृष्टि, चिन्तन एवं तार्किक शक्ति प्रदान की है , यद्यपि इस प्रकार की "वैयक्तिक-चेतना" सामाजिक व पारिवारिक जीवन को प्रभावित किया है । पर इतना अवश्य है कि इसने युग के साथ चलने की कला को विकसित किया है ।

(ग) वैज्ञानिकता -

वैज्ञानिकता की पृष्ठभूमि में तर्क-बुद्धि का विशेष स्थान है । इसी आधार पर व्यक्ति ने सत्यपरक तथ्यों का समाहार किया है । विज्ञान के आलोक में वह धार्मिक अंध-विश्वासों, जीर्ण-शीर्ण सामाजिक परम्पराओं को अमान्य ठहराते हुए उन्हें तथ्य परक ठोस धरातल पर उतारा है -" विज्ञान का विकास इस काल की प्रमुख घटना है ।

विज्ञान के आविष्कार और विकास ने ही आधुनिक युग के समस्त मूल्यों का निर्माण और विकास किया है । धर्म का स्थान अर्थ ने ले लिया, कल्पना का प्रयोग ने, नैतिकता का यथार्थ ने, भावुकता का बौद्धिकता ने ।"[1] इसी वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर व्यक्ति ने "परमात्मा" नाम की अलौकिक सत्ता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है और मनुष्य को उससे श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया है । डा० धर्मवीर भारती कहते हैं -

"पता नहीं । प्रभु है या नहीं,
किन्तु उस दिन सिद्ध हुआ
जब कोई मनुष्य ,
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को,
उस दिन नक्षत्रों की दिशा ही बदल जाती है ।
नियति नहीं है पूर्व निर्धारित,
उसको हर क्षण मानव निर्णय बनाता मिटाता है ।"[2]

वैज्ञानिकीकरण के कारण ही समकालीन व्यक्ति बौद्धिकता से जुड़ता जा रहा है । इसलिए उसकी "आदर्श-चेतना" पर "यथार्थ" एवं भौतिक-चेतना" निरन्तर हावी होती जा रही है । यहाँ तक कि विज्ञान ने मानव को अकर्मण्य बना दिया है । विज्ञान के विकास का प्रत्यक्षतम प्रभाव महानगरियों के जीवन पर देखा जा सकता है । जहाँ व्यक्ति मशीनों के बीच कार्य करते करते स्वंय एक मशीन बन कर रह गया है । इस चक्र में मध्यम वर्ग बुरी तरह पिस रहा है -

"बीस साल तक ।
रोज़ बिला नागा ।
चौराहे पर ड्यूटी बजा कर ।
जब मेरे हाथ चित्रकारी के लिए ।

1- आज का हिन्दी साहित्य-: संवेदना और दृष्टि -डा०रामदरश मिश्र पृ०-12
2- अंधायुग -डा० धर्मवीर भारतीजी,पृ०-24

और पैर बद्रीनाथ के लिये ।
बेकार हो चुके थे ।
मैं रिटायर हुआ ।
एक दिन यों ही घूमते -घूमते ।
जब फिर उस चौराहे पर जा निकला ।
तो देखता क्या हूँ ?
वहाँ अब मेरा भाई ड्यूटी नहीं देता ।
आटोमैटिक लाइटें लगी हैं ।
तो क्या मैं आयु भर ।
एक मशीन की एवज़ करता रहा ।"[1]

इस प्रकार विज्ञान ने एक ओर तो मानव को नई दृष्टि नये चिन्तन दिये हैं तो दूसरी ओर व्यक्ति को निष्क्रिय व पंगु बनाकर उसे कुंठित भी बिना दिया है । परिणामत: उसको परम्परागत मूल्यों व धारणाओं से आस्था हटती जा रही है, किन्तु यह भी सत्य है कि विज्ञान ने ही समाज को युगानुरूप नवीन तथ्यों से परिचय कराया है । -"धर्म, पुराण और वेद शास्त्रों को सभी सामाजिक ,धार्मिक और नैतिक मान्यताओं को विज्ञान ने धकेल दिया है और उनके स्थान पर कोई नया प्रभावशाली मूल्य स्थापित करने में उसे अनुकूलता भी मिली है ।"[2] समकालीन परिवेश में प्राचीन नैतिक मान्यताओं एवं आध्यात्मिक मूल्यों का तिरस्कार होने लगा है और व्यक्ति सुखवाद ,भोगवाद तथा व्यक्तिवाद जैसी दुष्प्रवृत्तियों के आदर सत्कार करने में संलग्न है । दूसरी ओर वैज्ञानिक विकास के नाम पर

1- एक ट्रैफिक पुलिस मैन {कविता} - भारत भूषण - पृ0-
2- नई कविता नये धरातल - डा0 हरिचरण शर्मा - पृ0-124

घातक हथियारों की होड़ सी लगी हुई है, जिससे सम्पूर्ण मानवता का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है । इसलिए समाज में आज सर्वत्र भय, संत्रास तथा तनाव का वातावरण बना हुआ है -"तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने प्राचीन धर्म और दर्शन जन्य मूल्यों का नाश तो किया, किन्तु मानव जाति को निश्चित मूल्य नहीं दिये । विषय-विषयों के सामंजस्य को नष्ट कर इसमें विरोध स्थापित किया । मनुष्य के बाहरी पक्ष अर्थात् शरीर, व्यक्तित्व और समाज को केन्द्र स्थानीय बनाया । मनुष्य को विवेकी और सामर्थ्यवान बनाकर उसे लघुता, चिन्ता, निरर्थकता, मृत्यु ,भय, निरूद्देश्यता, मूल्य हीनता आदि घातक वृत्तियों और भ्रमों को उत्पन्न किया ।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक युग में विज्ञान के विकास ने व्यक्ति को नई वैचारिक दृष्टि तथा नया चिन्तन विकसित करके "वैयक्तिक चेतना" को प्रभावित किया । आदर्श के स्थान पर यथार्थ व भौतिकता का आग्रह बढ़ा, साथ ही व्यक्तिवाद, तनाव, निष्क्रियता, भय जैसी दुष्प्रवृत्तियों को भी तीव्रतर किया है । समकालीन व्यक्ति अलौकिक सत्ता के भय से तो मुक्त हो गया किन्तु स्वंय अपने से भय-भीत हो गया है । इन समस्त जटिलताओं, विषमताओं का प्रभाव पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ा है ।

(ब) यातायात से विकसित चेतना :-

स्वतंत्र भारत में वैज्ञानिकता के साथ साथ यातायात के साधनों में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है । राष्ट्रीय व सामाजिक उत्थान में यातायात ने विशेष भूमिका निभाई है । रेलों में, मोटरों में एक

1- आधुनिकता और भारतीय परम्परा- डा० महावीर दाधीचि-पृ0-22

एक साथ बैठकर यात्रा करने से अस्पृश्यता व छूआछूत के भेदभाव के बंधन अनजाने या विवशता वश शिथिल होने लगे । शहरों व गांवों के बीच की दूरी घटती गई जिससे गांव से आया बेरोज़गार व्यक्ति गांव और शहर दोनों से जुड़ा रहा । इस प्रकार शहरी संस्कृति व सभ्यता के जीवाणु ग्रामीण संस्कृति व सभ्यता में घुलने-मिलने लगे, परिवर्तन की यह प्रक्रिया निरन्तर तीव्र होती जा रही है । यद्यपि ग्रामीण समाज में अभी तक ऊँच-नीच और अस्पृश्यता के भेद-भाव बने हुए हैं तथापि इनकी कट्टरता व कठोरता में अन्तर अवश्य आया है ।

यातायात के साथ साथ शहरीकरण ने भी "वैयक्तिक-चेतना" को विशेष रूप से प्रभावित किया है । रोज़गार की तलाश में आये लोग सामूहिक नल पर पानी पीने, होटल इत्यादि में भोजन करने तथा आवास समस्या के कारण एक साथ रहने-आदि मजबूरियों ने भी प्राचीन मान्यताओं व अंधविश्वासों को दूर कर युग सापेक्ष "व्यावहारिक-चेतना" को प्रोत्साहन दिया ।

इस प्रकार यातायात के साधनों में वृद्धि ने शहरों व गांवों को सम्पृक्त करने व संस्कृति सभ्यता के आदान-प्रदान होने से "चेतना" के प्रचार प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

<u>औद्योगीकरण</u> :-

जैसाकि उल्लेख किया जा चुका है कि ब्रिटिश शासन काल में ही देश में औद्योगिक क्रान्ति आई । अंग्रेज़ों ने इसका विस्तार भारत के लघु उद्योग धंधों तथा हस्त कला को नष्ट कर कुशल कारीगरों को बेमौत मारने के उद्देश्य से किया था जिससे वह भारत जैसी दुधारू

गाय से अधिक से अधिक धन कमा सकें । स्वाधीनता के पश्चात् ,भारत को उन्नत व आत्मनिर्भर बनाने के लिए पं0 नेहरू ने बड़े बड़े कल-कारखाने की स्थापना पर बल दिया ,जबकि गांधी जी कुटीर व लघु उद्योग धंधों को विकसित करने पर ज़ोर दे रहे थे ।

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत के महानगरों व नगरों में बड़े-बड़े कारखाने, फैक्ट्रियां खुलने लगी । परिणामत: गांव के युवक बेकार किसान, शहरों की ओर भागने लगे । उपन्यासकार "अमृतराय" अपने उपन्यास "बीज" में इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं -"गांव उजड़ रहे हैं और शहर बस रहे हैं । इसलिए नहीं कि शहर में हुन बरसता है बल्कि एक तो इसलिए कि आदमी कहीं से भाग कर कहीं को जाता है,दूसरा इसलिए कि शहर की दुनियां ज्यादा बड़ी है । आदमी वहां भूखों मरता है, मगर मरने से पहले बीसों दरवाजे तो खटखटा लेता है । गांव में इसकी सुविधा नहीं । शहर में बीसों काम होते हैं ।"[1] इस प्रकार शहर में आया व्यक्ति विवशतावश जाति-पांति के बंधन तोड़ने लगा । वह जाति से नहीं, अपितु "काम" से पहचाना जाने लगा । इस औद्योगिककरण ने व्यक्ति की कोमल भावनाओं को रौंद कर उसे मशीनों का दास बना दिया । -"विश्व इतिहास में पहली बार मनुष्य मशीनों का दास हुआ । पहली बार रेनैंसा का आरम्भिक कृषक वर्ग व्यापारी वर्ग में रूपांतरित हो गया । पहली बार उच्च मानवतावाद की परिणति "व्यक्तिवाद" में हुई । फलस्वरूप पहली बार अकेले मनुष्य और अव्यवस्थित समाज के बीच {"परायापन" की भीषण समस्या आ खड़ी हुई । पुराने आदर्श और प्रारूप अनुपयोगी तथा

1- बीज - अमृत राय - पृ0 225

अप्रमाणिक हो गये ।"[1] औद्योगिक विकास ने संयुक्त परिवार प्रथा को अत्याधिक प्रभावित किया । परिवार के सदस्यों को जिस शहर में नौकरी मिलती वह उसी स्थान पर पत्नी व बच्चों सहित चला जाता । इस प्रकार पारिवारिक स्वरूप, लघु होता गया,दूसरे व्यक्ति में स्वतंत्र इच्छाएं ,निर्णायक शक्तियाँ तथा स्व-विकास की भावनाएं उग्र रूप धारण करने लगी । जिन्होंने "वैयक्तिक चेतना" को परोक्ष व प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया । कल-कारखानों में स्त्री-पुरूष के साथ साथ काम करने से एक दूसरे के प्रति नई मानसिकता का उदय हुआ । नारी के प्रति चले आ रहे परम्परागत दृष्टिकोण का ह्रास हुआ और उसे "मित्र" तथा "सहकर्मी" के रूप में भी जाना जाने लगा। इस नई वैचारिकता ने सामाजिक व पारिवारिक जीवन को आलोड़ित कर दिया । नैतिकता के प्रतिमान अस्थिर होने लगे ।

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि औद्योगीकरण की स्थापना यंत्रवादी युग की देन है । यंत्रवाद की सृष्टि करने वाला भौतिक विज्ञान है, जिसने भौतिकवादी चेतना" को भी उत्पन्न किया है । इस प्रवृत्ति का विकास पूंजीवाद के प्रसार और पूंजी के लिए संघर्ष की भावना के साथ साथ होता गया । जिसके परिणामस्वरूप "मालिक-मजदूर संघर्ष" "घेराबंदी" तालाबंदो, हड़ताल आदि के रूप में आमतौर पर दिखाई दे रहा है । मिल-मालिक श्रमिकों के हित को तिलांजली देकर स्वार्थ पूर्ति के लिए धन व वस्तुओं का अत्याधिक संचय में संलग्न है । परिणामत: आर्थिक विषमता व अर्थ असमानता की खाई और अधिक चौड़ी होती जा रही है । आन्तरिक विपन्नता

1- नई कविता उद्भव और विकास - डा० रामवचन राय- पृ०-52

किन्तु बाहरी सम्पन्नता के दिखावे की दोहरी जिन्दगी जी रहा "मध्यमवर्ग" इसी औद्योगिक क्रान्ति की ही देन है ।

इस प्रकार आलोच्य कालीन समाज में उद्योग धंधों के विकास व विस्तार से जहाँ एक ओर "व्यावहारिक चेतना" के परिपेक्ष्य में छूआछूत ,अस्पृश्यता जैसे बंधन को शिथिल किया है । निम्न वर्ग में अपने अधिकारों के प्रति जागृति तथा अत्याचार के प्रति "सामूहिक" विद्रोह की भावना का विकास किया, वहीं दूसरी ओर औद्योगीकरण से विकसित हो रही "भौतिक चेतना" ने आदर्श व परम्परागत मूल्यों को विघटनात्मक बिन्दुओं पर ला खड़ा किया है । वर्ग संघर्ष, आर्थिक असमानता तथा अर्थ प्रधान संस्कृति को जन्म दिया । इन्हीं अवरोधों के कारण "वैयक्तिक चेतना" "स्व" पर केन्द्रित होती चली गई । व्यक्ति की कार्य कुशलता अपनी स्वार्थ सिद्धि तक ही सिमट आई ।

§च§ आर्थिक प्रवृत्तियाँ :-

सुदीर्घ काल से ही भारत में धर्म की प्रधानता रही है । पुरूषार्थ चतुष्ट्य में "धर्म" को प्रथम स्थान व "अर्थ" को द्वितीय स्थान दिया है । लेकिन "धर्म" के उपरान्त "अर्थ" को महत्त्व देना "अर्थ" की उपयोगिता को स्वीकारने का संकेत है । परन्तु समकालीन परिवेश को देखते हुए उसे "अर्थ प्रधान" कहना अनुचित नहीं होगा । आज "अर्थ" की उपादेयता इतनी बढ़ गयी है कि "धर्म" भी उसी पर आश्रित हो गया है । "अर्थ" प्रधान संस्कृति ने यह सिद्ध कर दिया है कि इसके बिना कोई भी व्यक्ति, कोई भी समाज और कोई भी राष्ट्र अपना विकास नहीं कर सकता । समकालीन युग में मनुष्य की पहचान "वर्ण" से नहीं अपितु "वर्ग" से होने लगी है । आज वही व्यक्ति आभिजात्य माना जाता है जो धनवान है ।

इस समय पूरा विश्व आर्थिक संकट के दौरे से गुजर रहा है । राष्ट्रों का संतुलन गड़बड़ा रहा है । समाज में परस्पर उच्चवर्ग, मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग में संघर्षात्मक तथ्य उपस्थित हो गये हैं । जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि उच्च वर्ग और निम्न वर्ग अपनी अपनी सामर्थ्य व सीमाओं के घेरे में संतुलित है और स्वेच्छा से जीवन निर्वाह कर रहा है, किन्तु मध्यम वर्ग अनेक प्रकार की विसंगतियों, कुंठाओं व "अपनाने और छोड़ने" की उहापोह को स्थिति का शिकार है । उसमें न तो इतना साहस है कि सामाजिक परम्पराओं को त्याग सके और न ही इतना अविवेकी कि उन मृत परम्पराओं को अपना सके । मध्यम वर्गीय व्यक्ति को इस द्वंद्वात्मक स्थिति का प्रभाव उसके आचार-व्यवहार पर स्पष्ट रूप से झलक रहा है । वह आदर्श का स्वांग करता हुआ "यथार्थ व "भौतिक चेतना" की ओर आकर्षित हो रहा है ।

इस युग के आर्थिक संकट ने समाज को चहुं ओर से घेर रखा है । एक ओर मंहगाई, वस्तुओं का कृत्रिम अभाव तथा बेरोज़गारी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, वहीं दूसरी ओर भ्रष्टाचार, रिश्वत-खोरी, स्वार्थ प्रवृत्ति आदि बुराईयां, नागफणी के समान पनपती हुई देश विकास के मार्ग में कंटक बो रही है । आधुनिक आर्थिक संकट के साथ साथ जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की प्रवृत्ति ने नारी को घर से बाहर निकलने पर विवश कर दिया है, लेकिन कुछ नारियां फैशन परस्ती या आधुनिका कहलाने के लिए "अर्थ प्राप्ति" करने लगी हैं । आर्थिक रूप से आत्म निर्भर बन जाने पर उसमें अद्भुत आत्म-विश्वास, अहम् व स्व-अस्तित्व की भावना उभरी है, जिसके परिपेक्ष्य में वह सामाजिक व नैतिक मूल्यों पर प्रश्न चिन्ह लगा रही है ।

सन्तान प्राप्ति और उनका लालन पालन उसके लिए बेकार का झंझट बन गया है । इस प्रकार नारीआत्मनिर्भरता से जहाँ एक ओर वह अपने को ऊंचा उठा रही है, नये चिन्तन व वैचारिकतासे सम्पृक्त हो रही है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक, पारिवारिक व नैतिक मूल्यों को नकार रही है, परिणामत: पति-पत्नी के बीच अनदेखी दीवार निरन्तर ऊंची होती जा रही है । पारिवारिक सम्बन्धों में कसैलापन व्याप्त हो रहा है जिसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा ।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक प्रवृत्तियों ने "वैयक्तिक चेतना" को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया है । इस अर्थ प्रधान" संस्कृति ने "आदर्श चेतना" को ह्रासोन्मुख कर "भौतिक चेतना" को विकसित किया ।

(छ) राजनैतिक प्रवृत्तियाँ :-

स्वातंत्र्योत्तर युग को यदि "राजनीति" का युग कहें तो अतिशयोक्ति न होगी । आज जन जीवन में राजनीति सामान्य चर्चा का विषय बन गयी है । स्वाधीन भारत की राजनीति में कुछ ऐसे पक्ष उभरे हैं जिनके कारण राजनीति घर-घर और गाँव-गाँव में व्याप्त हो गई है, जिसने आधुनिक व्यक्ति के चिन्तन व दृष्टिकोण पर व्यापक प्रभाव डाला है । अशिक्षित और ग्रामीण व्यक्ति में भी नई चेतना विकसित हुई है ।

स्वतंत्र भारत में मैं कानूनी रूप से सब को एक समान सिद्ध कर नई वैचारिकता को जन्म दिया-"कानून के सामने सब नागरिकों को बराबरी का दर्जा, अवसरों की समानता, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समानाधिकार, हर प्रकार के भेद भाव से मुक्ति और

स्वधर्म के पालन तथा प्रचार की स्वतंत्रता धर्म-निरपेक्षता, फंडामेंटल राइट्स" आदि इस संविधान की कुछ प्रमुख विशेषताएं हैं । इसी संविधान का परिणाम है कि आज सभी छोटे-बड़े, सशक्त और दुर्बल वर्ग अपना अपना व्यक्तित्व खोजने में सक्रिय हैं ।"[1] इस प्रकार भारतीय संविधान ने निर्बल व निम्न वर्ग को समानता दर्जा देकर उनमें आत्मविश्वास, स्वाभिमान व अधिकारों के प्रति जागरूकता आदि का विकास किया। नारी अधिकारों व सुरक्षा के लिए भी विशेष कानून बनाकर उसकी स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयास किया गया । यह तो राजनीति का उज्ज्वल पक्ष है, जिसने भारतीय जन जीवन में नई चेतना, जागरूकता, आत्मविश्वास का भाव उत्पन्न किया है । यह तो स्पष्ट है कि स्वाधीनता के पश्चात् भारतीय "राजनीति चेतना" बहुविध रूपों में "वैयक्तिक चेतना" को प्रभावित कर रही है । उसने व्यक्ति में लोकतांत्रिक, संवैधानिक अधिकारों, समानता व स्वतंत्रता आदि की भावना को तीव्र किया है । राजनीति ने -"समसामयिक जीवन में अन्य अनेक आन्दोलनों, कृषि सुधार, निम्न वर्ग उत्थान, नारी स्वतंत्रता, मजदूर व श्रमिक संघ आन्दोलन, नौकरशाही आन्दोलनों तथा जनसंख्या पर नियन्त्रण हेतु परिवार नियोजन, छात्र आन्दोलन, आरक्षण आदि आन्दोलनों के माध्यम से भारतीय जन-जीवन में नई वैयक्तिक चेतना को विकसित किया ।"[2] वास्तव में राजनीति ने भारतीय समाज का ढांचा ही बदल दिया है । व्यक्ति के कार्य-कलापों, आचरणों तथा मनोवृत्तियों

1- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास- डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पृ0-13

2- साठोत्तरी उपन्यासों में अंकित जीवन मूल्य-डा0 वासुदेव शर्मा-पृ0-304

में भी नयी मानसिकता का समावेश हुआ है । नारी व निम्न वर्ग में नव जागृति आई । चुनाव प्रणाली ने व्यक्ति को अपने अधिकारों तथा स्वप्रतिष्ठा की ओर प्रेरित किया है । राजनैतिक चेतना ने निम्न वर्ग मजदूर वर्ग तथा किसान वर्ग को जमींदारों तथा सामन्तों के चंगुल से छुड़ाने का कार्य ही नहीं किया, अपितु उनमें अन्याय व अत्याचार के प्रति विद्रोह करने की चेतना का भी सन्निवेश किया -"जमींदारी उन्मूलन का मूल आधार आर्थिक कारण नहीं, राजनीतिक कारण था और था ज़मींदार और जनता के बीच सदैव से चला आया संघर्ष ।"[1] अत: कहा जा सकता है कि राजनैतिक प्रवृत्ति ने व्यक्ति में वैचारिक संघर्ष , नई मानसिकता तथा वर्ण संघर्ष की स्थिति को उत्पन्न किया है । उसने "वैयक्तिक चेतना" को यथार्थ परक व्यावहारिकता की ओर मोड़ा है । जिसका प्रभाव परम्परागत जीवन मूल्यों, आदर्शों आदि पर व्यापक रूप से पड़ा है ।

उपर्युक्त पृष्ठों में "वैयक्तिक चेतना" को प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया । इन समस्त प्रवृत्तियों ने किसी न किसी रूप में "वैयक्तिक चेतना" को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय जीवन-मूल्यों, परम्परागत आचारों-विचारों व धारणाओं को अपने प्रभाव से अछूता नहीं रहने दिया । पारिवारिक व सामाजिक जीवन को विघटनात्मक स्थिति तक पहुंचा दिया है । ऐसा नहीं कि ये समस्त प्रवृत्तियां गत दो दशकों के दौरान ही उत्पन्न हुई हैं अपितु ये सभी प्रवृत्तियां पहले भी समाज में विद्यमान थी, किन्तु इनका स्वरूप इतना

1- ग्रामीण समाज शास्त्र - राम बिहारी तोमर - पृ0 418

उग्र नहीं था, जिससे यह "वैयक्तिक चेतना" की धारा को नया मोड़ प्रदान करतीं । कुछ दशक पूर्व तक समाज में "आदर्श" का प्राधान्य था, इसलिए "वैयक्तिक चेतना" भी आदर्शपरक थी, जो अब ह्रासोन्मुख हो कर "भौतिक" व "यथार्थ-चेतना" के रूप में विकसित हो रही है । इस बदलती "चेतना" ने आधुनिक व्यक्ति जीवन के महत्वपूर्ण पक्षों को प्रभावित कर उसके मन-मस्तिष्क में अस्थिरता उत्पन्न कर दी है । नया चिन्तन व नई मानसिकता प्रदान की है - इस तथ्य का विस्तार से विवेचन परवर्ती पृष्ठों में किया जायेगा ।

वैयक्तिक चेतना से प्रभावित विभिन्न पक्ष :-

पूर्व पृष्ठों में "वैयक्तिक चेतना" को प्रभावित करने वाले तथ्यों का विश्लेषण किया जा चुका है और इस तथ्य को भी भली-भाँति स्पष्ट किया जा चुका है कि इन प्रवृत्तियों से प्रेरित "वैयक्तिकता-चेतना" का रूप परिवर्तन भारत की स्वाधीनता के बाद तक तीव्रता से नहीं हुआ था जितना कि पिछले कुछ दशकों से हुआ है । क्योंकि जब समाज में आदर्श तथा नैतिकता के प्रति रूझान बना हुआ था, लेकिन "यथार्थ" और "भौतिक चेतना" भी अपना पैर जमाने में लगी हुई थी ,जो अब अर्थात् समकालीन समाज में अनुकूल वातावरण पाकर गतिशील हो गयी हैं । इस बढ़ती हुई "वैयक्तिक चेतना" की धारा ने अपने आस-पास पास की पारिवारिक सामाजिक, नैतिक एवं राजनैतिक भाव भूमि को कहीं कहीं हरियल और कहीं दलदल बनाया जिसका विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया जायेगा -

§1§ वैयक्तिक पक्ष :-

युग की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ साथ मानव जीवन की गतिविधियाँ, उसके आचार-विचार, अनुभूतियाँ, संवेदना आदि भी

परिवर्तित हो रहे हैं । समकालीन परिवेश में विकसित "वैयक्तिक चेतना" ने स्वंय को विशेष रूप से प्रभावित किया है, उसके पारिवारिक जीवन को आलोड़ित किया है । "नैतिकता" की नई परिभाषा दी है, मूल्यों तथा आदर्शों पर प्रश्न चिन्ह लगाया है, इसके साथ-साथ कुछ तद्युगीन मूल्यों को जन्म भी दिया है ।

﴾।﴿ स्वच्छंद यौन चेतना - टूटती नैतिक मान्यताएं :-

जैसाकि पूर्ववर्ती पृष्ठों में विवेचन किया जा चुका है कि आज का युग "अर्थ" प्रधान युग है । वैज्ञानिक व औद्योगिक उन्नति ने भारतीय नैतिक मूल्यों व आदर्शों को ह्रासोन्मुख किया है और "यथार्थवादी" एवं भौतिक वादी चेतना को बल दिया ।

विज्ञान ने आधुनिक व्यक्ति को तर्कवादी बना दिया है इसलिए वह प्राचीन मान्यताओं को आधुनिक समय की तराजू पर तौल रहा है- "परम्परागत मूल्यों में बदलाव आरम्भ हुआ । तर्क की कसौटी पर धार्मिक विश्वास खंडित हो गये । यह प्रक्रिया पश्चिम में काफी तेज़ी से घटित हुई , क्योंकि विज्ञान के प्रभाव में सबसे पहले वही आया ।"[1] इसी वैज्ञानिक कसौटी पर स्वच्छंद यौन वृत्ति को परख कर उसे सहज व शारीरिक आवश्यकता घोषित कर दिया है ।

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में "काम" को अनिवार्य व महत्वपूर्ण तथ्य माना है । इसे मानवीय जीवन की स्वाभाविक वृत्ति के रूप में स्वीकारा है, किन्तु समाज में इसके संयमित एवं मर्यादित रूप की मान्यता रही है -""काम" के अन्तर्गत मनुष्यों की समस्त प्रवृत्तियों, इच्छाओं तथा कामनाओं का समावेश रहता है । वासना से "काम" का अर्थ लेना उसके वास्तविक स्वरूप को संकुचित करना है । "काम" का विस्तृत प्रयोग ही समीचीन होगा, क्योंकि इसके बिना व्यक्ति न धर्म

के लिए प्रयत्न करता है, न अर्थ के लिए ही वह भोग नहीं करता ।"[1] अत: भारतीय समाज ने "काम" को सदैव धर्म से जोड़ा है और इसके महत्व को स्वीकारा, इसीलिए "कामसूत्र" ग्रन्थ लिखा गया । आचार्य वात्स्यान ने भी "कामवृत्ति" के भौतिक पक्ष की अपेक्षाकृत पारमार्थिक पक्ष को महत्व पूर्ण माना है ।"[2] अत: प्राचीन काल से ही इसकी अनिवार्यता व स्वाभाविकता को पहचान कर इसे पति-पत्नी के बीच स्वीकार किया, जिससे सामाजिक व्यवस्था असंतुलित न हो । इसीलिए विवाह के पूर्व एवं पश्चात् अन्यानैक शारीरिक सम्बन्ध अनैतिक तथा पापाचारी माने गये हैं । इस प्रकार भारतीय समाज में "काम" मर्यादित, संयमित एवं आदर्शपूर्ण था ।

आधुनिक काल तक आते-आते इसके विषय में मतैक्य नहीं रहा । कुछ मनोवैज्ञानिक इसे अनावश्यक रूप से दबाने को चारित्रिक दुर्बलता, रोग व मानसिक कुंठा का कारण मानते हैं । इस विचारधारा को पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फायड, एडलर और जुंग ने काफी प्रोत्साहन दिया । इन्होंने यौन वृत्ति को शारीरिक भूख व प्राकृतिक माना है । मनोविश्लेषण वादी फायड तो यहाँ तक कहता है कि कोई भी स्त्री किसी भी पुरूष के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर सकती है । इसी विचारधारा का प्रश्रय पाकर आधुनिक व्यक्ति ने नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों को झकझोर दिया है । "मनोविश्लेषण वादी सिद्धान्त ने व्यक्ति स्वातंत्र्य मूल्य को महत्व प्रदान किया तथा अन्य वैयक्तिक मूल्यों संबंधी अभिवृत्तियों को भी बल दिया । नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को अधोगति प्राप्त हुई जिसके

1- आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य- डा0 हुकुमचन्द राजपाल-पृ0-340

2- काम सूत्र परिशीलन - वाचस्पति गेरोला ≡ पृ0-29

परिणामस्वरूप केवल "वैयक्तिक मूल्य" ही उर्ध्व गति की ओर अग्रसर हुये । उनके विकास के चरम ने अति वैयक्तिक मूल्यों को जन्म दिया ।"[1] वैयक्तिक चेतना में स्वच्छ यौनवृत्ति की भावना निरन्तर उग्र रूप से दृष्टि गोचर होती जा रही है । उपन्यासकार अमृतलाल नागर के "नाच्यौ बहुत गोपाल" उपन्यास में इस तथ्य को बड़े साहस के साथ चित्रित किया गया है, जिसमें एक ब्राह्मण पुत्री निर्गुण अपने समस्त संस्कारों ,मर्यादाओं, सामाजिक मान्यताओं तथा वृद्ध पति को त्याग कर हरिजन मोहन सिंह के साथ भाग जाती है । उसके मन मस्तिष्क में जहां एक ओर जातिगत संस्कार जोर पकड़ते हैं ,वहीं दूसरी ओर शारीरिक भूख भी उसे त्रस्त करती है । और अंत में जीत शारीरिक भूख की ही होती है ।"[2]

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि इस वृत्ति की अग्नि में घी डालने का काम - वैज्ञानिकता ,शहरीकरण से उत्पन्न आवास समस्या और पाश्चात्य प्रभाव ने बखूबी किया है । शहरों में आवास समस्या के कारण माता-पिता,पति-पत्नी युवा सन्तान,भाई-बहिन आदि एक ही कमरे में सिमट आये, जो कार्य कलाप व बातें गुप्त रहती थीं,वे अब चौराहे पर आकर निर्वस्त्र हो गई हैं । इसके साथ साथ विज्ञान ने भी नये-नये गर्भ निरोधक साधन उत्पन्न करके इस भावना को सामाजिक भय से मुक्त कर दिया । कल-कारखानों,दफ्तरों आदि में भी स्त्री-पुरूष के एक साथ कार्य करने से भी "सैक्स" के प्रति परम्परागत विचार शिथिल हुए । पाश्चात्य सभ्यता में ढली,शिक्षिता व आर्थिक रूप से स्वतंत्र नारी ने प्राचीनकाल की पवित्रता,शील व पातिव्रत्य जैसी मान्यताओं को झुठला दिया है । अपने को "मॉड" कहलाने के लिए वह विवाहपूर्व शारीरिक संबंध स्थापित करने में तनिक नहीं हिचकती । इस स्वच्छंद यौन वृत्ति ने पारिवारिक विघटन,वैवाहिक मूल्यों में बिखराव,पति-पत्नी में अलगाव

1-नई कहानी में जीवन मूल्य - डा0 रमेशचन्द्र लवानिया-पृ0117

2- नाच्यौ बहुत गोपाल - अमृत लाल नागर - पृ0-२४

व अजनबीपन, मन-मुटाव आदि दुष्प्रवृत्तियों को विकसित किया है । इस वृत्ति ने धार्मिक व नैतिक मान्यताओं को भी ह्रासोन्मुख किया है । सबसे अधिक कुठाराघात नैतिक मूल्यों पर हुआ है जिसके परिणामस्वरूप ही आज समाज में भ्रष्टाचार व्याप्त होता जा रहा है ।

युगीन परिस्थितियों ने मानवीय विचारधारा और चिन्तन को प्रभावित करके नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों को द्वंद्वात्मक स्थिति तकपहुंचा दिया है । आधुनिक समाज के प्रत्येक पक्ष से "नीति" शब्द हट सा गया है । स्वच्छ यौन वृत्ति की भावना जैसे-जैसे व्यक्ति पर हावी होती गयी, वैसे-वैसे नैतिक मान्यताएं तिरोहित होने लगी । भारतीय संस्कारों पर प्रश्न चिन्ह लगने लगे । समकालीन संघर्षशील परिस्थितियों में मानव मन को -

"धक्के इतने लगे भीड़ के ।
कि सब पवित्र संस्कार ।
दूध के दांत की तरह टूटते गये ।"[1]

समसामयिक परिस्थितियों से अद्भूत नारी में स्व-अस्तित्व व आत्म सम्मान के भाव बोध की उष्मा ने उसके शील व पवित्रता जैसे शब्दों को मोम की भांति पिघला दिया है । "समानता" का नारा लगाती हुई वह घर की चार दीवारी से बाहर निकल आई और अपनी आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को निस्संकोच पुरूष प्रधान समाज के सम्मुख रखने लगी है । लेकिन कुछ

1-अपराधग्रस्त कविता {संक्रान्त' कविता' संग्रह} -डा0 कैलाश वाजपेयी-पृ0 97

मुट्ठीभर नारियाँ पाश्चात्य सभ्यता में रंगी-ढली नारी स्वतंत्रता का गलत अर्थ लगाकर स्वच्छंद विचारों की ओर अग्रसर हो रही हैं। "वैयक्तिक स्वातंत्र्य" के नाम पर "विवाह" संस्थान पर प्रश्नचिन्ह लगा रही है - "मैं कहती हूं कि विवाह की आवश्यकता ही क्या है ? क्या विवाह के बिना समाज का कार्यक्रम नहीं चल सकता ? मित्रता के नाते क्या दो व्यक्ति एक साथ जीवन नहीं बिता सकते ?"[1] इसी धारणा से वशीभूत हो वह विवाह पूर्व शारीरिक सम्बन्धों तथा विवाह पश्चात् अन्य पुरूषों के साथ बनाये गये सम्बन्धों को अनैतिक नहीं मानती ।

एक ओर पाश्चात्य चिन्तन तथा विज्ञान ने "भौतिक चेतना" को उत्तरोत्तर विकसित करते हुए नैतिक मूल्यों को छितराया है वहीं आधुनिक शिक्षा ने "धर्म" के परम्परागत स्वरूप को नष्ट करने में अपना योगदान दिया है । उसने पाप-पुण्य, ईश्वर आदि को मिथ्या सिद्ध कर दिया है । "परलोक" को काल्पनिक घोषित कर "भौतिक जगत" को सत्य स्थापित किया है । "आधुनिक काल ने पिछले युगों की धर्म-चेतना या आध्यात्म चेतना को तोड़ फैंक दिया और घोषित किया कि संसार सत्य है ।"[2]

इस प्रकार वैज्ञानिक सभ्यता तथा आधुनिक अन्य अनेक परिस्थितियों ने व्यक्ति को युगानुरूप नये चिन्तन, नये दृष्टिकोण प्रदान किये हैं । साथ ही उसे अस्तित्वहीन, नैतिकता-विहीन दुविधात्मक स्थिति तक पहुंचाने का श्रेय भी लिया । आधुनिक व्यक्ति मूल्यहीन,

---

1- इंसान (उपन्यास) - यज्ञदत्त शर्मा - पृ0 57

2- आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि -डा0 रामदरश मिश्र -पृ0-12

दिशाहीन होकर असन्तुष्ट, कुंठित और तनावग्रस्त जिन्दगी व्यतीत कर रहा है । "भौतिक सुख-सुविधाओं की मृगतृष्णा के पीछे थक कर चूर-चूर ,और बौखलाया सा दौड़ रहा है । इस मशीनी जीवन ने उसकी कोमल संवेदनाओं को लील लिया है । पति-पत्नी का मन-मुटाव , अजनबीपन दोनों के संबंधों को क्षणभंगुर सिद्ध कर रहा है । पत्नी की सहानुभूति ,प्रेम और विश्वास से वंचित पति "स्वच्छंद यौन" की ओर भागता है तो भौतिक सुख-साधनों तथा अत्याधिक धन के लालच में फंसे, पत्नी व सन्तान से अजनबी बने पति से त्रस्त व दुखी पत्नी अन्य पुरूषों की ओर आकर्षित हो रही है । इन सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों से युवा पीढ़ी अत्यधिक ग्रस्त है । सामाजिक परिस्थितियों की तेज धार ने उसके पंख काट दिये हैं इसलिए उस की उडान अधूरी है और वहऔंधे मुंह अनेक संगतियों, विसंगतियों, जटिलताओं एवं विद्रूपताओं की झाड़ी में फंसा हुआ, निकलने का अथक प्रयास कर रहा है ।

§2§ नई मानसिकता : मूल्य संक्रमण :-

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवन की नवीन परिस्थितियों में आदर्श,नैतिकता व अन्य सामाजिक मान्यताएं विघटित होती जा रही हैं लेकिन इनके स्थान पर नये युगानुरूप स्वच्छ चिन्तन स्थापित नहीं हो पाये हैं । इसलिए आधुनिक व्यक्ति मूल्य विघटन की स्थिति में अनेक विसंगतियों, असंगतियों तथा अन्य विभिन्न प्रकार की दुर्बल मन:स्थितियों से गुजरता हुआ भिन्न प्रकार की मानसिकता में जी रहा है । इस मशीनी युग में अपने को निरर्थक

अकेला, तथा परम्पराओं के बोझ से लदा निष्कासित अदना व्यक्ति समझ कर कह उठा है -"लगता है, कहीं कोई ठौर नहीं ।

आज का मनुष्य , गर्भ से धक्के देकर निकाला हुआ ।

ऋषि पुत्र ।

समकालीन युग में बौद्धिक चेतना, भौतिकता के प्रति बढ़ते आकर्षण तथा अहम् कीभावना ने मानव-मस्तिष्क में वैचारिक द्वंद्व उत्पन्न कर दिया है । शिक्षा व विज्ञान के आलोक कई मान्यताएं निरर्थक सिद्ध हो रही हैं , जैसे- श्राद्ध कर्म, जनेऊ संस्कार, मुण्डन संस्कार आदि किन्तु सामाजिक लोकाचार के कारण उन्हें मानना पड़ रहा है । इस प्रकार आधुनिक व्यक्ति की कथनी और करनी में अन्तर आ गया है । वैचारिक मतभेद के कारण आधुनिक समाज में नई व पुरानी पीढ़ी का संघर्ष बढ़ता जा रहा है । पुरानी पीढ़ी अभी तक जीवन-मूल्यों, परम्पराओं, आदर्शों तथा नैतिक मान्यताओं के प्रति आस्थावान है,जबकि नई पीढ़ी उनके बनावटीपन, खोखलेपन तथा महत्वहीनता से परिचित हो उन्हें नकार रही है । समकालीन साहित्य दो पीढ़ियों के संघर्ष को मार्मिकता व सजीवता से चित्रित कर रहा है । आज की युवा पीढ़ी अपनी स्वतंत्रता के लिए माता-पिता व परिवार की मर्यादा को त्याग रही है । "पत्थरों के शहर" उपन्यास में पुत्री इति अपने पिता के प्रति कहती है -" बाबू जी बूढ़े हो गये हैं , बस अपने विचारों को हर मामले में लाद देते हैं ।"[1] और "हम थोड़ी बहुत स्वतंत्रता चाहते हैं ।

1- पत्थरों का शहर उपन्यास - सुरेश सिन्हा - पृ0-40

बाबू जी सठिया गये हैं ।"[1] इस प्रकार समकालीन बौद्धिकता से व्याप्त वातावरण में स्नेह, प्रेम, विश्वास आदि के भाव कसैले होते जा रहे हैं ,नैतिकता अपनी "नीति" त्याग रही है । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में कहें -"सच तो यह है कि वैज्ञानिक, औद्योगीकरण, तकनीकी विकास ने जहां एक ओर जीवन की सुख सुविधाएं प्रस्तुत की हैं,वहीं दूसरी ओर परम्परागत जीवन मूल्यों पर प्रश्नसूचक चिन्ह भी लगा दिये हैं । इसीलिए आज का नवयुवक विद्रोह करता है और तत्कालीन परिवर्तन चाहता है । अपना नवीन मानसिक और बौद्धिक दृष्टि बिन्दु प्रस्तुत कर वह अपने ढंग से सभी प्रकार की पुरानी मान्यताओं को तोड़ना चाहता है, सड़ी-गली परम्पराओं के बोझ से वह समाज को उबारना चाहता है ।"[2] आधुनिक व्यक्ति ऐसे समाज में जी रहा है जहां चहुं ओर टूटन व घुटन का वातावरण व्याप्त है, संबंध हीनता का धुंआ फैलता जा रहा है । एक ओर बढ़ती हुई मंहगाई, बेरोज़गारी की समस्या, आर्थिक विषमता तथा स्वच्छंद यौन भावना ने दाम्पत्य जीवन में कांटे बो कर समकालीन व्यक्ति को कुंठाग्रस्त, अकेलेपन तथा तनावयुक्त जीवन भेंट किया है तो दूसरी ओर सांस्कृतिक,सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों के विघटन ने उसे दिशाहीन, पंख कटा पक्षी बना दिया है ,आज वह ऐसे जहाज का पंछी बन गया है जिसका जहाज बीच समुद्र में उससे कहीं खो गया हो और वह निरर्थक चक्कर काट रहा है, हताश है, लेकिन फिर भी उसकी खोज जारी है । पर इस विकट स्थिति का प्रत्यक्ष प्रभाव उसके चिन्तन पर पड़ रहा है - उसे अपनी संस्कृति, मूल्य, आदर्श, रेत के महल प्रतीत हो रहे हैं ।

1- पत्थरों का शहर उपन्यास - सुरेश सिन्हा पृ०-4।

2- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय -पृ०-20

इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक ओर युगानुरूप नई वैचारिकता ने सदियों के अंधविश्वासों तथा अनेक परम्पराओं,को धराशायी किया और "व्यावहारिक चेतना" को विकसित किया, तो दूसरी ओर परिस्थितियोंवश कुंठित हुई मानसिकता ने दाम्पत्य जीवन तथा पारिवारिक जीवन में मन-मुटाव सम्बन्धों में अजनबीपन तथा अहम्वादी प्रवृत्ति को जन्म दिया है, जिसने न केवल व्यक्ति को अपितु परिवार को भी प्रभावित किया है ।

"वैयक्तिक-चेतना" से प्रभावित पारिवारिक पक्ष :-

जैसाकि प्रथम अध्याय में "परिवार" के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "परिवार" एक ऐसी संस्था है, जिसमें रहकर व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण एवं विकास होता है । उसमें रहकर व्यक्ति अपने प्रत्येक कार्य-कलापों, आवश्यकताओं, अभिवृत्तियों तथा उद्देश्यों आदि की पूर्ति करता है । भारतीय समाज में "संयुक्त परिवार" आदर्श परिवार के प्रतिमान माने जाते रहे हैं, जिसमें रह कर व्यक्ति बुजुर्गों ~~व्यक्तियों~~ का सम्मान, छोटों को स्नेह प्रदान करता हुआ सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करता है, किन्तु आज बदलते परिवेश में व्यक्ति बौद्धिकता एवं अस्तित्व की भावना से प्रेरित होकर आत्मकेन्द्रित होता जा रहा है । इसलिए आज संयुक्त परिवार टूट रहे हैं । संयुक्त परिवार की परम्परा, जो पारस्परिक स्नेह,प्रेम, सहयोग, त्याग और सुरक्षा की स्थली थी, अब धराशायी हो चुकी है -"पारिवारिक बन्धन ढीले हो रहे हैं । परस्पर वह स्नेह नहीं रहा जो, पहले हुआ करता था ----"यों तो भाई-भाई में सम्पत्ति पर झगड़े पहले भी होते दिखाई देते थे, परन्तु बहिन-भाई, पति-पत्नी में सदा स्नेह का

व्यवहार रहता था । साथ ही झगड़ा अपवाद होता था नियम नहीं । अब तो झगड़ा नियम बन गया है और परस्पर स्नेह अपवाद ।"[1] संयुक्त परिवारों में बुजुर्ग मुखिया का आदेश पालन ही सब के लिए मान्य होता था, किन्तु आज परिवार का प्रत्येक सदस्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व अनिवार्य समझता है । इस भावना के मूल में "वैयक्तिक चेतना" ही है , जिसने नारी वर्ग को भी उतना ही प्रभावित किया है जितना पुरूष वर्ग को । शिक्षिता स्वतंत्र विचारों की पोषक नारी संयुक्त परिवारों को कैद समझ रही है - "आपके परिवार की इस भाषा को मैं कतई नहीं मानती । परिवार की इस भाषा को मैं कतई नहीं मानती । परिवार की यह पुरानी रूढ़िवादी संस्था मान भी ली जाये कि कोई चीज़ है तो यह बस माता-पिता और उनके बच्चों तक ही सीमित रहनी चाहिये । इससे आगे परिवार की संस्था को खींच कर ले जाना केवल भ्रम मात्र है ।"[2] वैयक्तिक स्वातंत्र्य तथा अहम् भाव से ओत प्रोत नारी ने पारिवारिक मूल्यों के विघटन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । भारतीय संस्कृति नारी को "गृहलक्ष्मी" के पद से विभूषित करती है और उससे आशा की जाती है कि वह घर की देखभाल व सन्तान का पालन पोषण करे । जबकि पति का दायित्व घर से बाहर जाकर अर्थोपार्जन करना होता था, किन्तु आधुनिक युग में शिक्षा, पाश्चात्य प्रभाव तथा संवैधानिक अधिकारों-आदि ने नारी को अत्याधिक जागरूक बनाया है, दूसरी ओर आर्थिक संकट तथा फैशन परस्ती आदि के कारण वह घर की चारदीवारी से बाहर निकल आई है और प्राचीन नैतिक व सामाजिक मान्यताओं पर प्रश्न सूचक

1- गिरते महल (उपन्यास) -गुरूदत्त - पृ0 102

2- परिवार (उपन्यास) - यज्ञदत्त शर्मा - पृ0 141

चिन्ह लगा रही है । उसका, सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तान के प्रति मोह-ममता का भाव शनैःशनैः परिवर्तित होता जा रहा है । पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण कर स्वंय को आधुनिक बनाने के लिए नौकरी करने वाली नारी न तो घर की समुचित देखभाल कर पाती है और न ही सन्तान का उचित लालन-पालन कर सकती है । परिणामतः सन्तान माता-पिता की अपेक्षा व अवज्ञा करने लगती है और उसके मन में माता-पिता के प्रति लगाव भी कम होता जा रहा है । इस प्रकार समकालीन परिस्थितियों से परिवार में विघटनकारी ,अलगाव वादी प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं ।

उल्लेखनीय है कि आलोच्य काल में "भौतिक चेतना" उत्तरोत्तर विकसित हो रही है । समकालीन व्यक्ति अधिकाधिक भौतिक साधन जुटाने को लालायित है । इसीलिए जीवन-स्तर को उन्नत बनाने के लिए पति-पत्नी दोनों का अर्थोपार्जन करना आवश्यक सा हो गया है । नारी की आर्थिक आत्म निर्भरता ने ~~नारी~~ उसे विशेष रूप से जागृत कर उसे नये चिन्तन व अस्तित्व के भाव-बोध से सम्पृक्त किया है ।

नारी स्वतंत्रता और स्व-अस्तित्व की भावना :-

बदलती आधुनिक परिस्थितियों के साथ साथ व्यक्ति निरन्तन संघर्षरत है । औद्योगिक विकास वैज्ञानिक तकनीकी प्रगति से नित्य नये भौतिक साधनों में लिप्त होता जा रहा है और परम्परागत मूल्यों, विचार-धाराओं व मान्यताओं को तोड़ रहा है -"आज मानवीय तत्वों का जिस प्रकार विघटन हो गया है और सांस्कृतिक संकट के इस दौर में मनुष्य जिस प्रकार निरर्थकता की ओर अग्रसर होता जा रहा है, उसमें मध्ययुगीन धार्मिक प्रतिमानों के प्रति

तिरस्कार तथा नवीन मानव मूल्यों के प्रति विशिष्ट आग्रह बहुत स्वाभाविक है ।"[1] आधुनिक युग के इस संघर्ष को पुरूष अकेला ही सहन नहीं कर रहा है । स्त्री भी उसे बराबर अनुभव कर रही है । अनेक प्रकार के बन्धनों में जकड़ी नारी अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत है । उसे युगीन परिस्थितियों के साथ साथ समाज से भी जूझना पड़ रहा है । वह सामाजिक बन्धनों में न तो बंधी रहना चाहती है और न ही उससे पूर्णतः मुक्त हो पाई है । आज वह नये अस्तित्व की खोज की प्रक्रिया से [illegible] गुजर रही है - "जबकि स्त्री भी मानसिक संघर्ष से पीड़ित है न तो वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही स्थापित कर पाई है न परम्परा की दासता से पूर्णतः मुक्त हो पाई है । वह अपने नये व्यक्तित्व की खोज कर रही है ।"[2] समसामयिक परिवेश में नारी की प्रगति के नये-नये आयाम खुलते जा रहे हैं । आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनकर जहाँ एक ओर देश, समाज व परिवार की उन्नति में योगदान दे रही है वहीं पुरूष प्रधान भारतीय समाज में नये रूप में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना रही है । आत्मनिर्भरता की भावना ने उसमें अदम्य साहस व आत्मबल का संचार किया है । इसलिए वह पुरूष के अत्याचारों व दम्भ को चुनौती देने लगी है । "मैंने आज तक अपने को किसी पुरूष के सामने हीन नहीं होने दिया, किसी को अपनी कमजोरी का फायदा नहीं उठाने दिया । ------ मैं आर्थिक रूप से किसी पर निर्भर नहीं रहना चाहती --- पुरूषों में स्त्रियों के प्रति जो

1- विविधा - डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पृ0 124

2- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास- डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय पृ0-74

संरक्षात्मक भाव है वह मुझे बरदाश्त नहीं था, इसलिए मैंने ऐसा काम चुना जिसमें मैं अपने आपको किसी पुरूष के बराबर सिद्ध कर सकूं।"[1] किन्तु दूसरी और पाश्चात्य विचारधारा तथा वहाँ की सभ्यता से प्रभावित, आधुनिक शिक्षा व समान्तता का गलत अर्थ लगाकर तथाकथित आधुनिक नारियाँ भारतीय सामाजिक व पारिवारिक मर्यादाओं को तोड़ने में ही नारीवर्ग की प्रगति समझने लगी हैं। पवित्रता व शीलता के मानदण्डों को वैज्ञानिक तर्क के आधार पर नकार रही हैं। आज भी यद्यपि भारतीय पुरूष का चिन्तन नारी के प्रति परम्परागत है तथापि उसमें युगानुरूप परिवर्तन भी आ रहा है -"आधुनिक परिवेश में नारी का मूल्यांकन केवल नारी के रूप में होने लगा है। अब उसकी सत्ता मात्र पुरूष सापेक्ष नहीं है। आधुनिक नारी परम्परागत श्रृंखलाओं से अधिकाधिक मुक्ति की आवश्यकता का अनुभव कर रही है। सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-स्वातंत्र्य और नारी-प्रतिष्ठा की भावना ने परम्परागत मूल्यों में परिवर्तन प्रस्तुत किया है।"[2] इस प्रकार समकालीन परिवेश में नारी के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारा गया है। नारी आज अपनी पहचान "स्वंय" बन रही है। उसके प्रति आदर व सम्मान की भावना नये अर्थ ग्रहण कर रही है। नारी की इस स्व अस्तित्व व आत्म सम्मान की भावना ने दाम्पत्य जीवन को प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से प्रभावित किया है - जिसके कारण पारिवारिक जीवन के मूल्यों, मर्यादाओं की नींव को हिला दिया है।

1- अँधेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ0-462

2- "समकालीन हिन्दी साहित्य" लेख - सं0 वेद प्रकाश अमिताभ-पृ0-101

-{लेखक} डा0 हेमेन्द्र पानेरी

पति-पत्नी के सम्बन्ध :

यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि सामाजिक क्षेत्र में संयुक्त परिवार प्रणाली की प्रथा थी जो औद्योगीकरण, शिक्षा व शहरीकरण आदि के लुप्त होती गई और परिवार लघु रूप धारण करने लगे। किन्तु आलोच्यकाल के परिवेश में उत्तरोत्तर विकसित अहम् भाव, वैयक्तिक स्वातंत्र्य, स्व अस्तित्व तथा बौद्धिकता आदि के कारण लघु परिवार भी विघटन के कगार पर खड़े हैं। नारी में आत्मविश्वास व आत्म सम्मान की भावना जागृत होने से पारिवारिक सम्बन्धों विशेषत: पति-पत्नी के संबंधों में कटुता व्याप्त होती गई। परिवार के सदस्यों में परस्पर प्रेम, विश्वास, त्याग व आस्था क्षीण होती गई, उनमें व्यवसायिकता का समावेश होने लगा -"उनके पारिवारिक सम्बन्ध भी नष्ट होते जा रहे हैं। यहाँ तक कि पति-पत्नी के संबंधों में उपयोगिता और व्यावसायिकता का पुट आता जा रहा है।"[1] "भौतिक चेतना" से अभिभूत अथवा आर्थिक विषमता से ग्रस्त होकर पति पत्नी दोनों अर्थोपार्जन में लगे हैं और सन्तान अपने को उपेक्षित अनुभव कर रही है। परिणामत: नई पीढ़ी अवज्ञा, उश्रृंखल तथा विद्रोही होती जा रही है। आज की युवा पीढ़ी पारिवारिक सम्बन्धों का भी -"पोस्ट्‌ मार्टम" कर रही है। परम्परा से विरासत में मिले सम्बन्ध उसे मान्य नहीं। मन की गहराइयों तथा स्नेह के अभाव में सभी रिश्ते-नाते खोखले सिद्ध हो रहे हैं-"जिसे हम न माने वे संबंध झूठे हैं। संबंध मन की गहराइयों से होते हैं, चली आ रही परम्पराओं से नहीं।"[2] आज परिवार के आधारभूत स्तम्भों-विश्वास, त्याग,

---

1- विविधा - डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - पृ० 124

2- सुबह अंधेरे पथ पर - डा० सुरेश सिन्हा - पृ० 263

प्रेम, श्रद्धा - में दरारें पड़ गई हैं । प्रेमाभाव के कारण व्यक्ति परिवार को केवल मात्र रैन बसेरा या सिर छुपाने की जगह समझने लगा है और आधुनिका, स्वच्छंद विचारों की नारी "कैद" । पति-पत्नी में टकराहट का मुख्य कारण वैचारिक मतभेद है । शिक्षिता नारी अपने अस्तित्व बोध को जानकर उसकी रक्षा हेतु संघर्षरत है , आत्मनिर्भर बन अपनी मालिक स्वंय बनना चाहती है ,जबकि परम्परागत संस्कार लिए भारतीय पति अभी उसे वह स्थान देने को तैयार नहीं है जिसका वह सभा-सम्मेलनों में भाषण देता है और समाज के लिए उपयोगी भी अनुभव करता है । परिणामत: पति-पत्नी के मध्य वैचारिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और कभी कभी "तलाक" की स्थिति भी उपस्थित हो जाती है, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव सन्तान पर पड़ता है ।

माता-पिता और सन्तान के सम्बन्ध :

पति-पत्नी के कटुतापूर्ण सम्बन्धों, संघर्ष व तलाक आदि की स्थिति का प्रभाव सन्तान पर अवश्य पड़ता है । अर्थ प्रधान युग में जीवन स्तर ऊंचा उठाने तथा मंहगाई आदि ने "सन्तान" को "बोझ" सदृश्य बना दिया है । आधुनिक तथा पाश्चात्य सभ्यता में रंगी-ढली नारी मातृत्व जैसी भावना को दकियानूस विचाराधारा घोषित कर रही है । अपने सौन्दर्य और स्वास्थ्य के सामने ममता, वात्सल्य के भाव को सारहीन समझ रही है, किन्तु जैसे-तैसे सन्तानोत्पत्ति हो भी जाये तो "आया" और नौकरों को सौंप अपने उत्तरदायित्व से मुक्ति पा लेती है । ऐसे बच्चे युवा होने पर स्वंय को उपेक्षित अनुभव करते हैं । इसलिए बच्चों के मन में माता-पिता के लिए आदर

भाव, आज्ञा पालन की भावना कम होती जा रही है ।

दूसरी ओर युवा पीढ़ी बौद्धिकता व पाश्चात्य विचारों के कारण माता-पिता तथा अन्य गुरूजनों की आज्ञा पालन को अपने अस्तित्व का हनन, तथा बुद्धि विकास व स्वतंत्रता में बाधक मान रही है । माता-पिता के प्रति दायित्व बोध जैसे मूल्य ह्रासोन्मुख होते जा रहे हैं -"मैं जिसे बर्दाश्त नहीं कर सकता उसे उठाकर तोड़ दूंगा । मैं अपने बाप का कर्ज़ नहीं चुकाऊंगा ।"1

मंहगाई व बेरोज़गारी से बिखरती वैयक्तिक चेतना ने भी माता-पिता व सन्तान के बीच सौहार्दता को क्षीण किया है । तात्पर्य यह है कि समाज में बढ़ती "वैयक्तिक चेतना" तथा भौतिकता के प्रति तीव्रगति से उन्मुख होती भावना ने पारिवारिक सम्बन्धों को विषैला बना दिया है । परस्पर भाई-बहिनों के संबंध भी अपनी पवित्रता, मर्यादा को त्यागते जा रहे हैं, उनके बीच "भौतिक-चेतना" की दीवार ऊँची होती जा रही है ।

भाई-बहिन तथा अन्य कौटुम्बिक सम्बन्ध :

स्पष्ट किया जा चुका है कि आधुनिक परिवार संक्रमण की स्थिति से गुजर रहे हैं । इनके ढाँचे-कार्यों ,आदर्शों तथा सम्बन्धों में परिवर्तन अत्यंत तीव्रगति से हो रहा है । पति-पत्नी की कार्य व्यस्तता तथा आपसी कलह के साथ साथ आधुनिक शिक्षा प्रणाली तथा पाश्चात्यता से प्रभावित बौद्धिकता ने भी भाई-बहन के पवित्र सम्बन्धों को प्रभावित किया है । परिवार में भाई बहन के संबंध

1- पिता दर पिता §कहानी§ - रमेश बक्षी - पृ0- 79-80

पवित्रता ,सद्भाव, प्रेम व आदर के प्रतीक माने जाते हैं । वे भी आज उचित परिवेश व आचरण न मिलने के कारण कटुतापूर्ण हो रहे हैं। पाश्चात्य प्रभाव में डूबकर भाई-बहन प्राचीनकाल से चले आ रहे आदरशील व प्रेम को दकियानूस कहकर नकार रहे हैं । आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न अति बौद्धिकता,स्वच्छंद यौन वृत्ति ,आवास समस्या, आदि प्रवृत्तियाँ भी इन संबंधों को धुंधला कर रही हैं ।

भारतीय परिवार की पूर्णता पति-पत्नी ,सन्तान, चाचा-ताऊ, दादा-दादी, बुआ, मामा, मौसी आदि सगे-संबंधियों के सम्मिलित होने पर मानी जाती थी । परिवार के प्रत्येक सदस्य में परस्पर ,प्रेम, सहयोग, त्याग की भावना निहित रहती थी , किन्तु औद्योगिकरण ,शहरीकरण तथा आवास समस्या ने इन संबंधों में स्थान की दूरी कोउपस्थित कर दिया तो बौद्धिकता,मंहगाई , आर्थिक संकट तथा स्वार्थ वृत्ति ने हृदयों के बीच अलगाव व अजनबीपन के बीज अंकुरित कर दिये हैं । क्रमशः तीव्र होती "व्यक्तिवादी" भावना के कारण आज ये सम्बन्ध अपने अपने दायरे में सिमटते जा रहे हैं । अतिथि सत्कार, सामूहिक भोज आदि अन-अपेक्षित स्थिति का परिचायक बन गया है ।

उपर्युक्त विवेचन में पारिवारिक सम्बन्धों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कालीन समाज में शिक्षा, विज्ञान, शहरीकरण तथा अन्य अनेक परिस्थितिगत उत्पन्न प्रवृत्तियों ने "व्यावहारिक चेतना" के आधार पर स्त्री-पुरूष को नई चेतना, नये चिन्तन युगानुरूप मान्यताएं प्रदान की है । आर्थिक आत्म-निर्भरता ने नारी को आत्मबल प्रदान कर उसकी स्थिति को सुधारा है वहीं दूसरी ओर "भौतिक चेतना" ने "अर्थ" व "तर्क" के महत्व को स्थापित करते हुए पारिवारिक सम्बन्धों में तनाव, अलगाव

कुंठा व वैचारिक मतभेदों को उत्पन्न कर दिया है जिसके परिणाम स्वरूप पति-पत्नी और सन्तान तथा अन्य कौटुम्बिक सम्बन्धों के बीच दरार आ गई है ।

यौन-चेतना टूटते बनते परिवार :

यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि समकालीन व्यक्ति के जीवन में "यथार्थ-चेतना" तथा "भौतिक-चेतना" निरन्तर अपना प्रभुत्व स्थापित करती जा रही हैं, जिसने हमारे नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों पर प्रश्न सूचक चिन्ह लगा दिये हैं । "यौन वृत्ति" ने भी समाज द्वारा खींची गई लक्ष्मण रेखा को लाँघ कर उसमें हलचल उत्पन्न कर दी है ।

प्राचीनकाल से ही भारतीय मनीषी जिसकी आवश्यकता को स्वीकार करते आये हैं, उसके संयमित, मर्यादित आचरण को महत्व देते आये हैं , वह वृत्ति फ्रायड वादी सिद्धान्त का आवलम्बन पाकर व्यापक होती जा रही है -"वर्तमान युग में प्रेम और यौन सम्बन्धों से संबंधित परम्परागत आदर्शों का बहिष्कार कर यथार्थ को अपनाया जा रहा है । "फ्रायडीपन" विचारणा ने इस क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है । प्रेम का परम्परागत स्वरूप क्षीण हो चुका है ।"[1] पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित "भौतिक चेतना" के परिवेश में संयम, पवित्रता, ब्रह्मचर्य, आदि की भावना धूमिल हो रही है ।-" यूरोप की भोगवादी प्रवृत्ति अति यथार्थ का आग्रह, वैज्ञानिक तार्किक दृष्टि, बुद्धिवादी तटस्थता और भौतिकवादी दर्शन के समक्ष भारतीय धर्म और जीवन दृष्टि फीकी पड़ती दिखाई दे रही है ।"[2] इस बढ़ती भोगवादी प्रवृत्ति ने

1- समकालीन हिन्दी साहित्य - सं0 वेदप्रकाश अभिताभ -लेखक डा0 हेमेन्द्र पानेरी, पृ0-101

2- विविधा - डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पृ0 127

पारिवारिक जीवन में विघटन उत्पन्न कर दिया है । भारतीय संस्कृति में कामवृत्ति को धर्म से सम्पृक्त कर सन्तानोत्पत्ति हेतु गृहस्थाश्रम के कर्तव्य के रूप में निहित थी । किन्तु आज यह शारीरिक आनन्द एवं ऐन्द्रिय सुख तक ही सीमित रह गई है । अत: पति-पत्नी को शारीरिक तुष्टि न मिलने पर उनके मध्य बना स्नेहिल वातावरण कसैला हो जाता है और स्थिति "तलाक" या "अन्य तीसरे" तक आ पहुंचती है ।

जैसाकि संकेत दिया जा चुका है कि वैज्ञानिक विकास ने अन्य अनेक गर्भ निरोधक साधनों को प्रचलित कर इस भावना को उन्मुक्तता के साथ-साथ सामाजिक भय से मुक्त कर दिया है । आधुनिक शिक्षा ने तर्कवादी दृष्टिकोण तीव्र कर नैतिक मूल्यों पर जो करारी चोट की थी, इस वैज्ञानिक प्रगति ने इस दिशा में एक और कुठाराघात किया है । अद्यतन समाज में नारी भी इस पवित्रता, शीला, पातिव्रत्य सदाचार को सारहीन मानकर यौन स्वच्छन्दता को सहज रूप में ग्रहण कर रही है । "पति-पत्नी के संबंधों में स्वच्छंदता का अनुभव किया जाने लगा है । अब समाज में सतीत्व और पतिव्रत की मांग निरर्थक प्रतीत होने लगी है । गर्भपात की वैधानिक स्वीकृति ने नैतिकता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है ।"[1] आधुनिक परिवार इस विचार को आगमन से चरमरा उठे हैं । इस वृत्ति ने कहीं परिवारों को तोड़ा है तो कहीं ऊँच-नीच ,जात-पांत को नगण्य मान "प्रेम विवाह" के रूप में जोड़ा भी है । अधिकांशत: युवा वर्ग प्रेम के आधार पर अन्तर्जातीय विवाह कर रहा है । इसके लिए माता-पिता तथा समाज के विरोध को सह भी रहा है और आवश्यकता पड़ने पर गृहत्याग कर अपना नया

1- समकालीन हिन्दी साहित्य में उद्धृत लेख - सं0 श्री वेद प्रकाश अभिताभ -पृ0-102
लेखक - डा0 हेमेन्द्र पानेरी

घर बसाता है । इस प्रकार यह वृत्ति समाज में धूप-छांव का सा खेल रचा रही है ।

अब कहा जा सकता है कि आज का व्यक्ति अति भौतिकतावादी तथा तर्कवादी हो जाने के कारण "आदर्श वैयक्तिक चेतना" को नकार कर "भौतिक चेतना" तथा "यथार्थ चेतना" की ओर अग्रसर हो रहा है । पुरातन मूल्यों व आदर्शों को ध्वंस कर नये मूल्यों की स्थापना या नवीन युगानुरूप उचित चिंतन की नींव डालने में असमर्थ, समकालीन व्यक्ति द्वंद्वात्मक स्थिति में फंसा हुआ दिशाहीन भटक रहा है । सम-सामयिक परिवेश गत जटिलताओं, विद्रूपताओं तथा विसंगतियों से पराजित, थकित आधुनिक व्यक्ति, प्राचीन भारतीय मान्यताओं, स्थापनाओं व मूल्यों को ठहरा हुआ गंदला, सडांध युक्त जल समझ कर उसे त्याग, पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध कर देने वाले तत्वों को निर्मल, स्वच्छ जल समझ कर उन्मुख हुआ था, वे अब रेत की ढेर सिद्ध हो रही हैं, जो उसकी प्यास को शान्त करने में असमर्थ तो हैं लेकिन उसकी पपासा को और अधिक तीव्र अवश्य कर रही हैं । स्वच्छंद यौन वृत्ति के माध्यम से स्वंय को भुलावे में की असफल कोशिश में लगा व्यक्ति "परिवार" से दूर होता जा रहा है । उसकी इस वृत्ति ने परम्परागत विवाह एवं अन्य भारतीय संसंस्कारों के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन उपस्थित कर दिया है ।

विवाह तथा अन्य संस्कारों के प्रति नये दृष्टिकोण :

पूर्व विवेचन में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि आधुनिक परिवेश में बौद्धिकता तथा विज्ञान के विकास के कारण परम्पराओं के प्रति विद्रोह की चेतना व्याप्त होती जा रही है । भारतीय समाज में "विवाह" को एक

धार्मिक कृत्य के रूप में स्वीकार किया गया है । इसे दो आत्माओं, दो परिवारों का पवित्र सम्बन्ध, स्नेहपूर्ण बन्धन समझा गया है , जिसमें पति-पत्नी दोनों ही पारिवारिक दायित्वों, कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए गृहस्थाश्रम का पालन करते हैं । किन्तु समकालीन समाज में विवाह एक सामाजिक समझौता मात्र रह गया है ।तलाक के कानून ने इसके अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है,जन्म जन्मान्तर के संबंधों को खोखला कर दिया है । समकालीन युग में विवाह संबंधी समस्त परम्परागत धारणाएं परिवर्तित हो रही हैं । सामाजिक विषम परिस्थितियों ने इस स्थायी बन्धन को शिथिल करना आरम्भ कर दिया है । बौद्धिक चेतना तथा स्वच्छंद यौन वृत्ति ने सिद्ध कर दिया है कि विवाह न तो आज जन्म जन्मान्तर का संबंध रह गया है और न दो आत्माओं का पुनीत मिलन । बल्कि यह तो दो शरीरों की शारीरिक भूख शान्त करने का सुगम पथ है । आज परिवार में जरा सी कलह और मनमुटाव "तलाक" का रूप धारण कर लेती है,क्योंकि परिवार में से सहनशीलता, त्याग, प्रेम,सदभाव और विश्वास जैसे शाश्वत् मूल्य नारी स्वच्छंदता, अहम् भावना और पाश्चात्य अंधानुकरणीय प्रवृत्ति के कारण तिरोहित होते जा रहे हैं । "तलाक" और "मैत्री" करार जैसी संवैधानिक प्रवृत्तियों ने "विवाह" की सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है । पति-पत्नी के संबंधों में स्वच्छंदता तथा "तीसरे" का आगमन आधुनिकता,सहृदयता और प्रगतिशीलता का प्रतीक बन गया है । पत्नी से पातिव्रत्य और सतीत्व की अपेक्षा रखना दकियानूसी विचारधारा कहलाती है ,और नारी भी इसे अपनी स्वतंत्रता व स्वाभिमान पर प्रहार मानती है । नारी की स्वअस्तित्ववादी विचारधारा ने ही अन्तर्जातीय विवाह, प्रेम-विवाह आदि को बढ़ावा दिया है । इस प्रकार न केवल "विवाह" अपितु उससे संबंधित अन्य मान्यताएं भी समकालीन परिवेश में निरर्थक

प्रतीत हो रही हैं । कुछ समय पूर्व तक "विवाह" मानव समाज का "मूल्य" रहा है और परिवार व समाज की मूलभूत आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है । यद्यपि आज भी उसकी उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता, किसी न किसी रूप में इसका अस्तित्व बना हुआ, तथापि वैज्ञानिक विकास, शिक्षा, पाश्चात्य प्रभाव आदि के कारण इसे धार्मिक कृत्य मानना, पितृ ऋण से उऋण होने का, सन्तानोत्पत्ति का, मृत्योपरांत श्राद्ध कर्म करने का माध्यम मानना - आदि के भाव क्षीण हो रहे हैं । विवाह के इस परिवर्तित रूप ने "जातीयता" के कठोर बन्धनों को भी शिथिल किया है तथा इसके प्रति नये दृष्टिकोणों व नवीन चिन्तन को उभारा है ।

जातीयता के नये प्रतिमान :-

पूर्व विवेचन में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि उन्नीसवीं - बीसवीं शताब्दियों में हुए सामाजिक आन्दोलनों में अछूत वर्गोत्थान व ऊँच-नीच के भेद भाव को दूर करने का प्रयत्न किया गया । तत्पश्चात् गांधी जी के प्रयासस्वरूप तथा संविधान में "समानता" का दर्जा दिये जाने से अछूत वर्ग में नई चेतना और क्रान्ति का भाव प्रदर्शित होता है । लेकिन छूआछूत की भावना क्षीण अवश्य हुई है पर समाज पूर्णत: समाप्त नहीं हो पाया है -"नवीन शिक्षा के फलस्वरूप उत्पन्न विविध सुधारवादी आन्दोलनों के कारण समाज और धर्म को बदलने की प्रबल आकांक्षा और सक्रियता रहने पर भी परम्परा और रूढ़िप्रियता का इस समय बोलबाला बना रहा । यह तो नहीं कहा जा सकता कि जाति-व्यवस्था की कट्टरता एकदम दूर हो गई थी,किन्तु वह कुछ शिथिल होने लगी थी ।"[1] और अब साठोत्तर काल में

1- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास - प्रधान सं0 डा0 नगेन्द्र-पृ0-14 (दशम भाग)

बौद्धिक चेतना, स्व अस्तित्व की भावना तथा शहरीकरण के परिणाम स्वरूप इसके बंधन और अधिक शिथिल होते जा रहे हैं । जैसाकि कहा जा चुका है कि स्वच्छंद यौन चेतना की वृत्ति और विवाह सम्बन्धी मान्यताओं में परिवर्तन आने के कारण भी जाति व्यवस्था के प्रति भेदभाव दूर हुए हैं । समकालीन परिवेश में अन्तर्जातीय विवाह को हेय की दृष्टि से नहीं अपितु राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक समझा जाता है ।

औद्योगीकरण, शहरीकरण तथा आर्थिक व आवास समस्या ने व्यक्ति के परम्परागत धार्मिक संस्कारों, खान-पान सम्बंधी मान्यताओं तथा जातीय भावनाओं को गौण कर "अर्थ" के आधार पर "वर्गभावना" को क्रमशः उभारा । कल-कारखानों में एक साथ काम करने, आवासीय समस्या के कारण साथ साथ रहने तथा सार्वजनिक होटलों व नलों पर पानी पीने, मोटरों इत्यादि में एक साथ बैठने आदि के कारण प्राचीन नियमों का टूटना अनिवार्य हो गया । ऐसी स्थितियों में जाति-व्यवस्था अपना पुराना स्वरूप बनाये न रख सकी । इसके अतिरिक्त आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने भी इस दिशा में अहम् भूमिका निभाई । आज शिक्षा धर्म भूला नहीं है । वह "धर्मनिर्पेक्षता" तथा समानता का नारा सिखा रही है । पुरानी जर्जर मान्यताओं को तोड़ रही है, नई विचारधारा का नया आलोक व्याप्त कर रही है । अतएव समकालीन परिस्थितियों ने शिक्षित, निम्नवर्गीय व्यक्ति में स्वाभिमान के भाव बोध को जागृत कर उन्हें स्व-अधिकारों व सम्मानपूर्वक जीने की और प्रेरणा दी । इसलिए आज का निम्न वर्ग ,उच्चजाति को भययुक्त नहीं अपितु समानता के भाव से देख रहा है । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विगत दो दशकों में जातिगत भेदभाव दूर होते जा रहे हैं ।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन में "वैयक्तिक चेतना" से प्रभावित पारिवारिक पक्ष को स्पष्ट करते हुए इन निष्कर्षात्मक बिन्दुओं पर पहुंचा जा सकता है कि पिछले दो दशकों में पारिवारिक सम्बन्धों में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ निरन्तर बढ़ती जा रही हैं । "वैयक्तिक चेतना" से उद्भूत बौद्धिकता ने यद्यपि स्त्री-पुरूष को तार्किक दृष्टिकोण प्रदान किये हैं, जिसके फलस्वरूप कई सामाजिक कुरीतियों तथा बोझिल संस्कारों से मुक्ति की प्रेरणा मिली है तथा जड़ीभूत मान्यताओं और रूढ़ स्थापनाओं को त्यागने का साहस मिला, तथापि उचित मार्गदर्शन के अभाव में देश व काल की परिस्थितियों ने "व्यावहारिक चेतना" के आदर्श स्वरूप को पनपने का अ अवसर नहीं दिया । फलत: "व्यावहारिक चेतना" कुंठित होकर यथार्थ और भौतिक चेतना की ओर उन्मुख होती गई, और समाज में अनचाहे परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे । संयुक्त परिवार तो टूटे ही साथ ही लघु परिवार भी इसकी चपेट में आने लगे हैं । नारी स्वतंत्रता, उसकी आत्मनिर्भरता से उत्पन्न आत्म सम्मान की भावना, स्त्री-पुरूष के बौद्धिक दृष्टिकोण ने पति-पत्नी के बीच मन-मुटाव की स्थिति उपस्थित कर दी है । आधुनिक युग में वैज्ञानिकता तथा पाश्चात्य प्रभाव के कारण तीव्र होती स्वच्छंद यौनवृत्ति ने पारिवारिक व सामाजिक पक्ष को सर्वाधिक प्रभावित किया है । उसने आदर्शों, नैतिक व धार्मिक मान्यताओं को नगण्य मानते हुए विवाह जैसी संस्था के परम्परागत रूप पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है । उसका स्वरूप बदलता जा रहा है । "विवाह प्रणाली" के इस परिवर्तन के कारण ही परिवार और समाज अनेक असंगतियों, विसंगतियों, विद्रूपताओं का शिकार होता जा रहा है । परिवार में जहां प्रेम, सद्भाव, सहयोग, विश्वास और

त्याग का वातावरण बना रहता था, वह समकालीन परिवेशगत जटिलताओं की उष्मा में "तातल सैकत वारि बिन्दू सम" नष्ट होते जा रहे हैं । पति-पत्नी का सम्बन्ध भावना के धरातल को त्याग कर बौद्धिक बनता जा रहा है । उसमें सद्भावना के स्थान पर वैचारिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई है । सन्तान के प्रति ममता, मोह व वात्सल्य आदि के भाव परिवर्तित हुए हैं । इस प्रकार आधुनिक परिवार अलगाव और अवहेलनापूर्ण तथ्यों से घिरते जा रहे हैं ।

अत: स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कालीन समाज में "आदर्श चेतना" छिन्न भिन्न सी हो गई है । इसके साथ साथ "व्यावहारिक चेतना" ने जातिगत भेदभाव, निम्नवर्गोत्थान, नारी समानता, अन्तर्जातीय विवाह, तलाक आदि प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया है और "यथार्थ चेतना" तथा "भौतिक चेतना" के फलस्वरूप "अर्थ" और "काम" की प्रमुखता बढ़ी, जिसने सामाजिक पारिवारिक जीवन मूल्यों के साथ साथ राजनैतिक व आर्थिक पक्ष को भी प्रभावित किया है ।

राजनैतिक एवं आर्थिक पक्ष :

आधुनिक युग में उग्र होती "वैयक्तिक चेतना" की भावना ने जितना पारिवारिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक धरातल पर अपना रंग विकीर्ण किया है, उतना ही राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र को भी अपने प्रभाव में समेट लिया है । राजनीति कुचक्रों के इस युग में "वैयक्तिक चेतना" ने राजनैतिक मूल्यों व आदर्शों को परिवर्तित कर दिया है ।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि राजनीति आधुनिक युग की देन नहीं है, अपितु यह सुदीर्घ काल से चली आ रही है, किन्तु समय समय पर इसके स्वरूप में परिवर्तन आता गया । भारतीय राजनीति ने इस देश के समय-समय पर आँधीपतझड़ व बहार देखी है । स्वतंत्रतापूर्व की सत्याग्रह, हड़ताल, आन्दोलनों से युक्त राजनीति ने स्वाधीनता प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया । वही राजनीति आज देश की उन्नति में बाधक सिद्ध हो रही है । कारण - समकालीन परिवेश में राजनीति का "आदर्श" से विमुख हो जाना । स्वाधीनता पूर्व "राजनीति" जन साधारण की पहुँच से बाहर शिक्षित और विशेष व्यक्ति के सामर्थ्य की बात थी । लेकिन स्वातंत्रता आन्दोलन के समय महात्मा गाँधी, लाला लाजपत राय तथा अन्य नेताओं के आह्वान पर यह जन-जनार्दन की धरोहर बनती चली गई । संवैधानिक अधिकारों के फलस्वरूप कोई भी भारतीय नागरिक देश के सर्वोच्च पद पर पहुँच सकता है । इस प्रकार आजाद भारत की राजनीति "व्यक्ति" से जुड़ती चली गई । परिणामतः राजनीति के क्षितिज पर नित नये दलों का उदय होने लगा । हर कोई नेता अपना नया दल बनाकर मनमानी करने का तत्पर नजर आ रहा है- "वस्तुतः प्रजातंत्र की विकसित होती हुई सामाजिकता के अपने केन्द्र में "वैयक्तिक" है । क्योंकि प्रजातन्त्र की प्रधान इकाई "व्यक्ति" है । इस दृष्टि से प्रजातंत्रीय समाजवाद की मूल इकाई भी राज्य न होकर "व्यक्ति" ही रहा है । इस दृष्टि से सामाजिकता के साथ-साथ वैयक्तिकता का विकास पूरक के ही रूप में हुआ । यही पूरक वैयक्तिकता अपने उत्कृष्ट रूप में मानव की अन्तश्चेतना की विजय, आंचलिकता की राष्ट्रीयता की ओर बढ़ती हुई इकाई और (अहं)

के उदात्तीकरण के रूप में अभिव्यक्त हुई, किन्तु अपने संकुचित और प्रतिक्रियावादी रूप में इसी वैयक्तिकता ने अहम् जन्य कुत्साओं, पाशविक कामनाओं, राष्ट्र विरोधी प्रान्तीयता और संकीर्ण आंचलिकता को भी जन्म दिया है ।"[1]

"अर्थ प्रधान" भौतिक चेतना ने "राजनीति" से "नीति" को पृथक् कर "अर्थ" से सम्पृक्त कर दिया है । समकालीन परिवेश में राजनीति धनवानों का पर्याय बन गई है और अशिक्षित,गरीब जनता अपने प्रजातंत्रीय मूल्यों - "वोट" इत्यादि को रूपयों में बेच रही है तथा धनवान राजनीति को व्यवसाय बनाने वाले नेता प्रजातंत्री को खरीद रहे हैं । समकालीन नेता का उद्देश्य देश सेवा न रहकर केवल भाषण के सहारे सत्ता प्राप्ति करना ।

"सिर्फ सैंकड़ों मुख भाषण उगल रहे हैं
घोषणा पत्र गधे के मुंह में
चबता जा रहा है ।"[2]

इसप्रकार आज का नेता देश कल्याण व सेवा के नाम पर भोग विलासिता का जीवन जी रहा है । जनता का धन "स्वहित" के लिए प्रयोग कर रहा है ,नेताओं के समक्ष "नैतिकता" का कोई मूल्य शेष नहीं रह गया । "राजनीति में सब उचित है" की मान्यता पर आधारित "व्यावहारवादी चेतना" के कारण राजनीति दांव-पेच का खेलमात्र बन कर रह गयी है या शतरंज की बाजी और नेतागत कभी "हरिजन समस्या" कभी भाषावाद, कभी आरक्षण और कभी साम्प्रदायिक भावना आदि को मोहरों के रूप में इस्तेमाल कर एक दूसरे को मात देने में ही अपनी शक्ति व बुद्धि का ह्रास कर रहे हैं । जैसाकि स्पष्ट

1. हिन्दी उपन्यास - डा० कान्ति वर्मा - पृ०- 69
2. निषेध (कविता संग्रह) - सं० जगदीश चतुर्वेदी - पृ०- 46
प्रजातन्त्र के बुखार में (कविता) कवि- चन्द्रकान्त देवताले-

किया जा चुका है कि राजनीति में एक धक्का महात्मा गांधी की मृत्यु के समय लगा और सन् 1962और 1965 के युद्धों ने तो इसे यथार्थ के धरातल पर पटक दिया । इसलिए विगत कुछ दशकों से राजनीति में "यथार्थवादी" "व्यावहारिकता" और "भौतिक चेतना" ही दृष्टिगोचर हो रही है जिसने देश में भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रखा है । आम आदमी इस विषैले वातावरण से कुंठित एवं त्रस्त हो उठा है । महात्मा गांधी तथा अन्य नेताओं ने जिसे जन-साधारण से जोड़ने का प्रयास किया, आज वह जनता से उपेक्षित होकर दूर होती जा रही है । व्यक्ति राजनीतित के समक्ष अपने को मूक यंत्रवत् समझ कर कह उठा है कि स्वयं -"वह एक ऐसी निरीह घास है ।

जिसे पहले बकरी चर रही थी,
और अब बैलों की जोड़ियाँ व गौमाताएं ।"[1]

इस प्रकार साठोत्तरी राजनीति ने "वैयक्तिक चेतना" को कुंठित मूल्यहीन व स्वार्थपरक बना दिया है । स्वाधीन भारत में संवैधानिक अधिकारों तथा आदर्श नेताओं के प्रयास स्वरूप जो राजनैतिक जागृति के दीपक प्रज्ज्वलित हुए थे, वे साठोत्तर काल में विषम ज्वाला बनते जा रहे हैं, जिनमें देश की उन्नति, देश की एकता तथा राष्ट्रीय प्रेम की भावना स्वाहा हो रही है । राजनैतिक पक्ष पर विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी ।

<u>आर्थिक पक्ष</u> :

पूर्व विवेचन में संकेत दिया जा चुका है कि भारत में औद्योगिक क्रान्ति अंग्रेज़ों के साथ आई, जिसका उद्देश्य भारतीय कच्चे माल से अपना व्यापार बढ़ाना था, साथ ही भारतीय लघु उद्योग धंधों को नष्ट करना

1- निषेध (कविता संग्रह) सं0-जगदीश चतुर्वेदी - पृ0-186
कविता- कहीं कुछ नहीं होता- कवि- रमेश गौड़

था । अंग्रेजी की इस नीति से भारतीय लघु व कुटीर उद्योग धंधे नष्ट होते गये और कारीगर बेरोजगार हो गये । दूसरी ओर देश में कारखाने स्थापित होने लगे । जनसंख्या वृद्धि के कारण तथा गांवों के बीच से सड़क व रेल-लाइन बिछाने से कृषि योग्य धरती कम होती चली गई । लघु किसान धनाभाव की विवशता से बचे-खुचे खेत बेच खेतिहर मजदूर बन गया । नगरों में यातायात की सुविधा नहीं होने के कारण कल -कारखाने वहीं पर स्थापित किये गये । परिणामत: बेरोजगार व्यक्ति रोजगार की तलाश में शहरों की ओर दौड़ने लगे । इतने लोगों को एक साथ आता देख शहर अपने में सिमट सा गया । वह गांवों से आये अपने महमानों की भोजनपूर्ति, आवश्यकताओं की पूर्ति और आवास की पूर्ति करने में असमर्थ रहा । फलत: व्यक्ति पिंजरे जैसे कमरे में और परिवार एक कमरे में सिमट आया जिसके कारण भारतीय संस्कारों, मर्यादाओं व मूल्यों का निर्वाह करना दुष्कर हो गया। औद्योगीकरण के कारण जहाँ एक ओर जातिगत व्यवस्था के भेदभाव दूर हुये तो वहीं दूसरी ओर समाज में वर्ग चेतना तीव्रतर हुई । श्रमिक वर्ग, मजदूर वर्ग, बाबू वर्ग आदि । इस वर्ग चेतना से एकता,सहयोग तथा सुख-दुख में साथ देने की भावना तीव्र हुई । मजदूर,श्रमिक वर्ग एक जुट होकर अपनी मांगों व अधिकारों के समर्थन में संघर्ष करने लगे । उनमें "वैयक्तिक चेतना" के कारण नयी दृष्टि,नया चिन्तन पनपने लगा । "आज का शोषित वर्ग जागरूक है । आज वह बेगार नहीं करता, मार खाकर चुप भी नहीं बैठ सकता । उसे अपने अधिकारों का बोध होने के साथ साथ अपने सामर्थ्य पर विश्वास भी है ।"[1] इस

1-समकालीन हिन्दी साहित्य - डा0 वेद प्रकाश अभिताभ -पृ0-76

प्रकार "वैयक्तिक चेतना" से प्रभावित आज का मजदूर, कारीगर व श्रमिक वर्ग अपने परिश्रम का मूल्य जान चुका है । इसलिए वह पूरे उत्साह व साहस के साथ अपनी आवाज बुलन्द कर अपनी आवश्यकताओं की मांग कर रहा है । उसमें नई चेतना, नई क्रान्ति, विश्वास व आत्म विश्वास व्याप्त होता जा रहा है जो आधुनिक "वैयक्तिक चेतना" का ही परिणाम है ।

आर्थिक विषमता - वर्ग संघर्ष :

देश में बड़े बड़े कल-कारखाने खुल जाने से जहाँ एक ओर भौतिक सुख-साधनों की भरमार हुई, वहीं देश में आर्थिक विषमता भी बढ़ी है जिसे भौतिकता की ओर उन्मुख चेतना ने और भी जटिल बना दिया है । "वैयक्तिक चेतना" केकारण ही आर्थिक विषमता ने अपना रूप "उच्च वर्ग""मध्यम वर्ग" व निम्नवर्ग के रूप में स्थापित किया है । सुख-साधन से सम्पन्न उच्च वर्गीय "वैयक्तिक चेतना" भौतिकता की ओर झुकी हुई है तो आधुनिक परिस्थितियों की जटिलताओं से संघर्षरत, अभाव पूर्ण जीवन यापन करने वाले, किन्तु उच्चवर्ग की होड़ में लगे, "मध्यम वर्ग" की "वैयक्तिक चेतना" आदर्श से न तो पूर्णतः सम्पृक्त है और न ही असम्पृक्त है । "मध्यम वर्ग" कभी आदर्श का सहारा लेता है तो कभी प्रगतिवादी होने का स्वांग रचकर यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर आदर्शों व स्वास्थ मूल्यों को तोड़ भी रहा है । उच्च वर्ग के ऐश्वर्य व दम्भ को चुनौती स्वरूप मानकर, उनके समकक्ष आने के लिए वह सीमित आय के अतिरिक्त रिश्वतखोरी, जमाखोरी, चाटुकारिता व स्वार्थ प्रवृत्ति का शिकार होकर भौतिक सुख-साधनों को जुटाने में

लगा है और जब सीमित आयं से असीमित इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती तो मध्यवर्गीय व्यक्ति झुझलाया, निराश,कुंठित व तनावग्रस्त हो गया है किन्तु फिर भी वह अपने को अभावग्रस्त दिखलाना नहीं चाहता । इस प्रकार ब्रह दोहरी जिन्दगी जाना और मुखौटे धारण करना उसकी नियति बन गयी है -"प्रदर्शन हमारी दुर्बलता है । तुम मानों, कोई किसी के अभाव पर कभी कुछ नहीं कहता । केवल हम भयभीत मात्र होते रहते हैं,इसलिए प्रदर्शन की चिन्ता में घुलते रहते हैं ।----- किसी को आखिर क्या पता, हम क्या हैं और कैसी जिन्दगी बसर कर रहे हैं, कुत्तों सेभी बदत्तर ,जिसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता । दुनियां तो बस बाहर देखती है । अन्दर क्या है,कोई पर्दा उठाकर झांके तो पता चले, कैसे दिन-रात एक एक क्षण के लिए हिसाब-किताब जोड़ना-गांठना पड़ता है , यह उन्हें क्या मालूम ।"[1] इस प्रकार मध्यम वर्ग झुठलावे की जिन्दगी जी रहा है । निम्न वर्ग आर्थिक दौड़ में स्वतंत्र है । उसके लिए सामाजिक मान्यताओं की स्थिति नगण्य है और उच्च वर्ग समर्थ होने के कारण अपनी मर्यादाओं, मूल्यों को स्वंय बनाता है और सुविधानुसार स्वंय ही तोड़ता है । एक मध्यम वर्ग ही तनाव पूर्ण जिन्दगी जीने को विवश हो उठा है । समसामयिक जटिलताओं,विद्रूपताओं से कुंठित हो वह "आदर्श चेतना" को त्याग रहा है और भौतिक व यथार्थ चेतना की ओर उन्मुख हो रहा है, तो दूसरी ओर नैतिकता व सामाजिकता की दुहाई भी दे रहा है ।

अत: कहा जा सकता है कि आर्थिक संकट से गुजरते हुए युग में वर्ग विषमता की खाई और अधिक चौड़ी होती जा रही है । समकालीन

1- सुबह अंधेरे पथ पर - सुरेश सिन्हा - पृ0-110

व्यक्ति "जाति" से नहीं अपितु वर्ग से पहचाना जा रहा है । उच्च वर्ग पाश्चात्य प्रभाव की चकाचौंध में नैतिक मूल्यों, धार्मिक आस्थाओं को त्याग रहा है, किन्तु निम्न वर्ग की नींव पर खड़ा, उच्च वर्ग की ओर उन्नत ग्रीवा किये हुए मध्यम वर्ग न तो निम्न वर्ग को स्वीकार कर पा रहा है और न ही उच्च वर्ग के दम्भ को । वह विवशतावश सामाजिक व नैतिक मान्यताओं को विवशतावश अपनाये हुए है । आर्थिक संकट से संघर्षशील मध्यम वर्गीय व्यक्ति नारी स्वतंत्रता, नारी अस्तित्व व समानता के वज़नी शब्दों का प्रयोग कर उसे घर की चार दीवारी से बाहर आने का निमंत्रण भी देता है ,साथ ही साथ उसके प्रति परम्परागत दृष्टिकोण भी अपनाये हुए हैं । अतः इस वर्ग की स्थिति की अधिक दयनीय व तनावयुक्त है, किन्तु सबसे अधिक जागरूक ,चेतनशील एवं संवेदनशील भी यही वर्ग है ,जो युगानुरूप मूल्य स्थापित कर "व्यावहारिक चेतना" को विकासमान करता है ।

अर्थ - नारी स्वतंत्रता बनाम स्वच्छंदता :

आज की संघर्षशील परिस्थितियों से अकेला पुरूष ही संघर्षरत नहीं है अपितु नारी भी उसमें बराबर का योगदान दे रही है । आधुनिक शिक्षित नारी पुरूष के साथ कदम से कदम मिलाकर समय के साथ चल रही है । स्वाभिमान व स्व अस्तित्व बोध तथा आर्थिक विषमता ने उसे अर्थोपार्जन के लिए प्रेरित किया । नारी के आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो जाने पर उसमें अभूतपूर्व क्रान्ति, वैचारिक बुद्धि तथा नया आत्म विश्वास जागृत हुआ है । उच्च वर्गीय नारी समय व्यतीत करने या फैशन परस्ती के लिए नौकरी करती है ,उसे धन की आवश्यकता नहीं । किन्तु मध्यम वर्गीय नारी जीवन स्तर ऊंचा

उठाने की आकांक्षा से नौकरी करना अनिवार्य समझती है । नारी के स्वाभिमान व स्वअस्तित्व बोध ने पारिवारिक जीवन को झकझोर दिया है । नारी की "व्यावहारिक चेतना" ने उसे पुरूष का सहकर्मी, मित्र बनाने की ओर प्रेरित किया है, "भौतिक चेतना" ने प्रेमिका, अंकशायिनी और "मैत्री करार" जैसे कानूनी सम्बन्ध द्वारा मित्र बनने पर भी संकोच नहीं माना है । इसी आधार पर वह सतीत्व व पातिव्रत्य आदि के मूल्य को संकुचित मनोवृत्ति का लक्षण मान त्याग रही है । आज वह यौन सम्बन्धों को नैतिकता की तराजू पर नहीं अपितु तर्क के आधार पर माप-तोल रही है । पाश्चात्य प्रभाव तथा गर्भ निरोधक साधनों ने उसकी इस स्वच्छंदता को और अधिक बढ़ाया है ।

अतः कहा जा सकता है कि नारी की तीव्रतर होती "वैयक्तिक चेतना" ने पारिवारिक सम्बन्धों में टूटन, अलगाव तथा तनाव की स्थिति को उपस्थित कर दिया है । पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित आधुनिका व शिक्षित नारी स्वंय को "मॉड" कहलाने के लिए परम्परागत मूल्यों को नकार रही है । यही कारण है कि स्वतंत्र होने का दावा करते हुए भी उसकी स्थिति शोचनीय होती जा रही है । "आदर्श चेतना" को त्याग कर वह दिशाहीन भटक रही है । नारी स्वतंत्रता की उत्कृष्ट प्रवृत्तियों ने जहाँ समाज को विकासशील बनाने में अपना योगदान दिया, पारिवारिक दायित्वों को नये आयाम प्रदान किये, वहीं निकृष्ट प्रवृत्तियों ने परम्परागत मूल्यों, शील, पवित्रता, सामाजिक मान्यताओं पर प्रश्न सूचक चिन्ह लगाकर सामाजिक स्थिति में अनेक जटिलताओं व विषमताओं को उत्पन्न किया है ।

मूल्यांकन :-

द्वितीय अध्याय के समग्रतया विश्लेषण के आधार पर निष्कर्षात्मक बिन्दुओं के रूप में कहा जा सकता है कि अठाहरवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों की आर्थिक व सामाजिक नीति, अंग्रेजी शिक्षा तथा उसके प्रभाव और ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा हिन्दू धर्म की भर्त्सना के फलस्वरूप कई समाज सुधार आन्दोलन हुए, जिनका मुख्य उद्देश्य धार्मिक एवं सामाजिक बाह्याडम्बरों को दूर करके वैज्ञानिक स्वस्थ एवं सारयुक्त मान्यताओं व तथ्यों को स्थापित करना था । नारी शिक्षा, उसकी आत्मनिर्भरता, निम्नवर्गोत्थान, छूआछूत के भेद भाव को दूर करना आदि विषयों पर तत्कालीन समाज सुधारकों ने पर्याप्त ध्यान दिया । परिणाम स्वरूप भारतीय समाज में नई बौद्धिकता, विज्ञान का आलोक, शिक्षा का प्रसार तथा नवीन चिन्तन व्याप्त होने लगे । जन मानस में परतंत्रता से मुक्ति और स्व अस्तित्व का भाव बोध हुआ । यह स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज सुधारकों ने "व्यावहारिक चेतना" पर बल दिया जो आदर्शयुक्त थी । समाज व परिवार में सौहार्द्र, प्रेम, त्याग, एकता व भाईचारे का मूल्य बना हुआ था, जिसको द्वितीय महायुद्ध से जबरदस्त धक्का लगा और भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ हुए देश के बंटवारे के समय भीषण नर संहार ने मानवता व मानव मूल्यों की नींव में दरारें डाल दी । सन् 1960 के पश्चात् तीन युद्धों के परिणामस्वरूप आर्थिक विषमता, अधिक सुरक्षा व्यय, सुरसा की तरह मुंह फैलाती मंहगाई व बेरोज़गारी ने देश के वातावरण को दूषित बना दिया । फलत: "वैयक्तिक चेतना" व्यक्तिवादी सीमा में निबद्ध होकर स्वार्थपूर्ति में निहित हो गयी और "भौतिक चेतना" की ओर आकर्षित होती गयी । पाश्चात्य प्रभाव के कारण स्वच्छंद यौन वृत्ति ने परम्परागत नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों पर प्रश्न चिन्ह लगा दिये हैं ।

विज्ञान, औद्योगिक विकास, शिक्षा तथा बौद्धिक चेतना और पाश्चात्य अंधानुकरण ने नारी स्वतंत्रता को नये आयाम दिये । आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नारी के विचारों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए । वह स्व अस्तित्व व स्वाभिमान की भावना से प्रेरित होकर रूढ़िगत समाज से संघर्षरत हो गयी । लेकिन दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था का मोह भी नहीं छोड़ पा रही है । इस प्रकार वह दुविधाग्रस्त जीवन जीने को विवश है । नारी स्वतंत्रता के इस नये वैचारिक द्वंद्व ने पारिवारिक जीवन को विघटन के कगार पर ला खड़ा किया है ।

औद्योगीकरण से प्रभावित भौतिकता से प्रेरित "व्यावहारिक चेतना" ने आर्थिक विषमता, वर्गों में संघर्ष की स्थिति को और अधिक तीव्र किया है, जिसमें मध्यम वर्ग दोहरी जिन्दगी जीते हुए सर्वाधिक तनाव, कुंठा, अस्तित्व की खोज व घुटन से पीड़ित है । बुद्धिजीवी भी वहीं वर्ग है इसलिए समाज के प्रति अत्याधिक जागरूक है, अधिक संवेदनशील है, इसलिए स्वंय टूटन का अनुभव कर रहा है ।

स्वातंत्र्योत्तर काल कीइन्हीं विषम परिस्थितियों, मानवीय विसंगतियों, पारिवारिक व सामाजिक जीवन के विघटनकारी तथ्यों का चित्रण साठोत्तरी नाटकों में सफलतापूर्वक किया गया है । आधुनिक "वैयक्तिक चेतना" से प्रभावित पक्षों का नाट्य कृतियों के माध्यम से विश्लेषण परवर्ती अध्यायों में किया जायेगा ।

-::xx::-